शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

: संपादक : **रामजी माणेकचंद दोशी** वकील

जून : १९५८ ☆ वर्ष चौदहवाँ, ज्येष्ठ वीर नि. सं. २४८४ ☆ अंक : २

जगमगाता सूर्य

जहाँ नि:शंकता और निर्भयता से जगमगाता हुआ सम्यक्त्वरूपी सूर्य उदित हुआ, वहाँ उस सूर्य का प्रताप आठों कर्मों को जलाकर भस्म कर देता है। सम्यक्त्वी अल्प काल में ही सर्व कर्मों का क्षय करके परम सिद्धपद को प्राप्त करता है—वह उसके सम्यग्दर्शन का प्रताप है।

सम्यग्दर्शन क्या संयोग के अवलम्बन से हुआ है कि संयोग उसका नाश कर दे?—नहीं; सम्यग्दर्शन तो नित्य स्वभाव के अवलम्बन से हुआ है, इसलिये ज्ञानस्वभाव के अवलम्बन से धर्मात्मा नि:शंकरूप वर्तते हैं; बाह्य संयोगों के भय से वे कभी निज स्वरूप में शंकित नहीं होते।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[१५८]

एक अंक
चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

परमात्मा की घोषणा

भगवान ने समवशरण में ऐसी दिव्य घोषणा की है कि—अहो जीवो! तुम्हारे आत्मा में परमात्मशक्ति भरी है, उस शक्ति का विश्वास करो! जो जीव अपनी परमात्मशक्ति का विश्वास करता है, उसके बहिरात्मपना छूटकर वह अन्तरात्मा होता है और फिर वह अपनी चैतन्यशक्ति में लीन होकर उसमें से परमात्मदशा प्रगट करता है।

—इस प्रकार सर्वज्ञ परमात्मा ने परमात्मा होने का मार्ग बतलाया है।

प्रौढ़ उम्र के गृहस्थों के लिए सोनगढ़ (सौराष्ट्र) में जैनदर्शन शिक्षण-वर्ग

इस साल प्रथम श्रावण शुक्ला ५ सोमवार ता० २१-७-५८ से लेकर दूसरे श्रावण कृष्णा ९ शनिवार ता० ९-८-५८ तक (-२० दिन तक) श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट की ओर से सोनगढ़ में जैनदर्शन शिक्षण वर्ग चलेगा। तत्त्वज्ञान का प्रारंभिक अभ्यास करनेवाले जिज्ञासुओं को इस वर्ग का शिक्षण बहुत उपयोगी है। वर्ग में सम्मिलित होने के इच्छुक जैन बन्धुओं को अपने आने की अग्रिम सूचना कर देना चाहिये और निश्चित की हुई अवधि के दरमियान आ जाना चाहिए। शिक्षण वर्ग में लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका, छहढाला, द्रव्यसंग्रह, जैन सिद्धान्त प्रश्नोत्तरमाला का दूसरा तीसरा भाग होगा - अन्य विषय भी होगा।

श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

आत्मधर्म

सम्पादक : रामजी माणेक चन्द दोशी, वकील

जून : १९५८ ☆ वर्ष चौदहवाँ, ज्येष्ठ वीर नि. सं. २४८४ ☆ अंक : २

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की

कुछ शक्तियाँ

[२८]

विरुद्धधर्मत्व शक्ति

[गतांक नं० १५७ से आगे]

अनेकान्त ही धर्म का प्राण है। जिसप्रकार प्राण बिना जीवन नहीं होता, उसीप्रकार अनेकान्तस्वरूप को समझे बिना धर्म नहीं होता; इसलिये अनेकान्त ही धर्म का प्राण है। अनेकान्त से ही वीतरागी जिनशासन अनादि से जयवंत प्रवर्तमान है। अमृतमय ऐसे मोक्षपद की प्राप्ति अनेकान्त द्वारा ही होती है; इसलिये अनेकान्त अमृत है।

'विरुद्धधर्मत्व शक्ति' कहीं विरोध उत्पन्न करनेवाली नहीं है, किन्तु वह तो रागादि विरोधी भावों का नाश करके अविरुद्ध शान्ति देनेवाली है।

ज्ञायकस्वरूप आत्मा में 'तद्रूपमयपना और अतद्रूपमयपना जिसका लक्षण है—ऐसी विरुद्धधर्मत्व शक्ति' भी है।

आत्मा अपने ज्ञान, आनन्दादि के साथ सदैव तद्रूपमय है, और परपदार्थों के साथ सदैव अतद्रूप है; इसप्रकार तद्रूपता एवं अतद्रूपता ऐसे विरुद्ध धर्म एकसाथ हैं। यदि ऐसा विरुद्ध धर्मपना न हो और अकेला तद्रूपपना ही हो, तो आत्मा, जड़ के साथ भी तद्रूप हो जाये अर्थात् जड़ हो जाये; और

अकेला अतद्रूपपना ही हो तो आत्मा अपने ज्ञानानन्द से भी पृथक् सिद्ध हो; इसलिये तद्रूप तथा अतद्रूप ऐसी दोनों शक्तियाँ उसमें एक साथ हैं; उसका नाम विरुद्ध धर्मपना है। किन्तु सर्वथा विरुद्ध धर्मपना नहीं है; अर्थात् आत्मा अरूपी है और रूपी भी है, आत्मा चेतन भी है और अचेतन भी है—ऐसा विरुद्ध धर्मपना नहीं है। अस्ति-नास्तिपना, तत् अतत्पना ऐसे धर्मों को परस्पर विरुद्धता होने पर भी, स्याद्वाद के बल द्वारा वह विरोध दूर होकर दोनों धर्म आत्मा में एक साथ रहते हैं। आत्मा में अस्तिपना है ?—कहते हैं—हाँ; आत्मा में स्व अपेक्षा से अस्तिपना है। आत्मा में नास्तिपना है ? कहते हैं—हाँ; पर अपेक्षा से आत्मा में नास्तिपना है। उसीप्रकार तत्पने-अतत्पने में भी समझना। इसप्रकार अनेकान्तस्वरूप आत्मा एकसाथ परस्पर विरुद्ध धर्मों को धारण करता है—ऐसी विरुद्ध धर्मत्वशक्ति उसमें है। जिस समय तत्रूप है, उसी समय उससे विरुद्ध अतत्रूप भी है; जिस समय अस्तिरूप है, उसी समय उससे विरुद्ध नास्तिरूप भी है,—ऐसा विरुद्ध धर्मपना आत्मा में है।

एक ही वस्तु में अस्तिपना और नास्तिपना इत्यादि विरुद्ध धर्म एक साथ विद्यमान है; 'विरोध है रे, विरोध है...!'—इसप्रकार अज्ञानी लोग पुकारते हों तो भले पुकारें; वस्तुस्वरूप जाननेवालों का तो कोई विरोध नहीं है; वे तो जानते हैं कि वस्तुस्वरूप में ही विरुद्धधर्मत्व नाम की शक्ति है, वस्तु स्वयं ही ऐसी है कि परस्पर कथंचित् विरुद्ध धर्मों को अपने में धारण कर रखती है। ऐसा वस्तुस्वरूप समझने के पश्चात् पर से पराङ्मुखता होकर स्वोन्मुखता होती है; पर के साथ की एकता छूटकर स्व के साथ एकता होती है; मिथ्याबुद्धि दूर होकर सम्यक्बुद्धि होती है; पराश्रय दूर होकर स्वाश्रय होता है; और वीतरागता एवं केवलज्ञान उसका फल है।

आत्मा स्व-रूप से रहता है और पर-रूप नहीं होता, अपने स्वभाव के साथ सदैव एकरूप रहता है और पर के साथ तीनकाल में कभी एकरूप नहीं होता—ऐसा तद्रूपपना तथा अतद्रूपपना उसमें एक साथ है। और सूक्ष्मता से लें तो आत्मतत्त्व अपने ज्ञान-आनन्दादि स्वभावों के साथ सदैव एकरूप है और राग के साथ कभी एकरूप नहीं होता—ऐसा उसका स्वभाव है; आत्मा का नित्य ज्ञानानन्दस्वभाव, राग के साथ कभी एकमेक नहीं हुआ है किंतु पृथक् ही है। ऐसे स्वभाव को पहिचानकर उस ओर उन्मुख होने से पर्याय में भी वैसा (राग से भिन्नत्व का) परिणमन होता है; इसलिये उस स्वभावोन्मुख पर्याय में भी ज्ञान-आनन्द के साथ तद्रूपता और रागादि के साथ अतद्रूपता—ऐसा अनेकान्तपना प्रकाशित होता है। यही धर्म है और यही मोक्षमार्ग है।

'एक वस्तु में वस्तुपने को उत्पन्न करनेवाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना, सो अनेकान्त है।'

देखो, आचार्यदेव ने अलौकिक व्याख्या करके अनेकान्त का स्वरूप समझाया है। इस अनेकान्त से ही वीतरागी जैनशासन अनादिकाल से जयवन्त वर्त रहा है; क्योंकि वस्तु स्वयं ही ऐसे अनेकान्तस्वरूप है। अनेकान्त ही धर्म का प्राण है। जिसप्रकार प्राण के बिना जीवन नहीं होता, उसीप्रकार अनेकान्तस्वरूप को समझे बिना धर्म नहीं होता; इसलिये अनेकान्त ही धर्म का प्राण है। अनेकान्त को अमृत भी कहा जाता है; क्योंकि अमृतमय ऐसा जो मोक्षपद, वह अनेकान्त द्वारा ही प्राप्त होता है। अनेकान्तमय वस्तुस्वरूप को जीव ने अनंत काल में एक क्षण भी नहीं समझा; और उसे अपनी मिथ्या-कल्पना द्वारा विपरीतरूप से मानकर 'राग से भी धर्म होता है; आत्मा पर का भी करता है'—ऐसा मानता है। किंतु अनेकान्त का ऐसा स्वरूप नहीं है। वीतरागता, वह धर्म है और राग भी धर्म है—ऐसा अनेकान्त नहीं है, किंतु वीतरागता ही धर्म है और राग धर्म नहीं है—ऐसा अनेकान्त है। अनेकान्त तो वस्तु स्वरूप में परस्पर विरुद्ध दो शक्तियाँ बतलाता है; किन्तु कैसी ?—कि वस्तुस्वरूप को उत्पन्न करनेवाली। 'वीतरागता, वह हितरूप धर्म और राग भी हितरूप धर्म'—ऐसा कहने में धर्म का स्वरूप सिद्ध नहीं होता, किन्तु वीतरागता ही धर्म है और राग, वह कभी धर्म नहीं है,—ऐसा कहने से ही धर्म का वास्तविक स्वरूप सिद्ध होता है और वही सम्यक् अनेकान्त है।

अनेकान्त तो वस्तुस्वरूप में स्वयमेव प्रकाशित होता है। किस प्रकार ? कि जो वस्तु तत् है; वही अतत् है; जो एक है, वही अनेक है; जो सत् है, वही असत् है; जो नित्य है, वही अनित्य है;—इसप्रकार एक वस्तु में वस्तुपने का उत्पन्न करनेवाली (-सिद्ध करनेवाली) परस्पर विरुद्ध दो शक्तियाँ स्वयमेव प्रकाशित होती हैं; उसका नाम अनेकांत है। इस ज्ञानमात्र आत्मवस्तु को भी स्वयमेव अनेकांतपना प्रकाशित करता है—ऐसे आत्मा को पहिचाने तो धर्म हो।

आत्मा अपनी क्रिया कर सकता है और पर की क्रिया कभी नहीं कर सकता;—इसी में (ऐसी तात्त्विक अनेकांत दृष्टि समझने से ही) आत्मा की पर से भिन्नता सिद्ध होती है; इसलिये वह सम्यक् अनेकान्त है। किंतु आत्मा अपनी क्रिया कर सकता है और पर की क्रिया भी कर सकता है—इसमें पर से भिन्न आत्मा सिद्ध नहीं होता, इसलिये वह सम्यक् अनेकांत नहीं है। उसीप्रकार स्वभाव के आश्रय से धर्म होता है और पर के आश्रय से धर्म नहीं होता, ऐसा सम्यक् अनेकांत है; क्योंकि उसमें पर से भिन्न आत्मा का जैसा स्वरूप है, वैसा ही प्रकाशित होता है। "ऐसा भी होता है, और ऐसा भी होता है"—इसप्रकार अनेकांत हड़बड़ी नहीं कराता; किन्तु "ऐसा है और ऐसा नहीं है"—इसप्रकार वह यथार्थ वस्तुस्वरूप का निर्णय कराता है। जो वस्तुस्वरूप में हों, उन धर्मों

को मानना, सो अनेकांत है; और वस्तुस्वरूप में न हों, उन धर्मों को मानना, वह मिथ्यात्व है। आत्मा अपना कार्य करता है और पर का कार्य भी करता है, वहाँ विरुद्धधर्मत्व नहीं हुआ किन्तु आत्मा अपना कार्य करता है और पर का नहीं करता—इसमें विरुद्धधर्मत्व द्वारा वस्तु की सिद्धि हुई, इसलिये वह अनेकान्त है।

आत्मा अपने ज्ञायकस्वभावरूप से त्रिकाल तद्रूप (उसमय) है, और पर के साथ तद्रूप नहीं है; अर्थात् अतत्रूप है :—इसप्रकार तद्रूपपना तथा अतद्रूपपना—ऐसे दो विरुद्ध भावों को एक साथ धारण करना, वह विरुद्धधर्मत्व शक्ति का लक्षण है। जो तद्रूप हो, वही अतद्रूप कैसे हो सकता है ?—ऐसी विरुद्धता अज्ञानी को भासित होती है; किंतु भगवान कहते हैं कि ऐसे धर्मों को धारण करने का तो मेरा स्वभाव है; अपने रूप से तत् और पररूप से अतत्—ऐसे विरुद्ध धर्मों को धारण करने का ही तेरा अविरुद्ध स्वभाव है। तत्-अतत्, एक-अनेक, सत्-प्रसत् आदि चौदह बोलों से अनेकांत की व्याख्या का अत्यन्त विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण इस परिशिष्ट के प्रारम्भ में आ गया है।

आत्मा का स्वभाव अपने स्वरूप में रहने का है; पररूप होने का उसका स्वभाव नहीं है; इसलिये पर से कुछ सहायता ले, अथवा परवस्तु आत्मा को शरणभूत हो—ऐसा वस्तुस्वभाव नहीं है। 'चत्तारिशरणं पव्वज्जामि, अरहंत शरणं पव्वज्जामि...' ऐसा भक्ति में विनयपूर्वक कहा जाता है, उसमें अरिहंतादि को पहिचानकर उनके बहुमान की भावना है; किंतु आत्मा पर की शरण ले अथवा पर किसी आत्मा को शरणभूत हो—ऐसा अपना या पर का स्वभाव नहीं है। यदि आत्मा को पर की शरण हो तो वह पर के साथ तद्रूप-एकमेक हो जाये; किंतु ऐसा कभी नहीं होता। अनेकांत स्वभावरूपी अभेद गढ़ ऐसा है कि आत्मा को सदैव पर से अत्यन्त भिन्न ही रखता है; पर के एक अंश को भी आत्मा में नहीं आने देता। अंतरदृष्टि से ऐसे (-पर से अत्यन्त विभक्त तथा अपने स्वरूप से एकत्व) वस्तुस्वभाव को जानना, वह अपूर्व सम्यग्दर्शन तथा सम्यक्ज्ञान है।

आत्मा अपने ज्ञानरूप है और पर ज्ञेयरूप नहीं है; ज्ञान के साथ तत्पना है और परज्ञेयों के साथ अतत्पना है। यह आत्मा अपने से भिन्न किसी भी द्रव्य का किसी भी क्षेत्र में, किसी भी काल में; अथवा किसी भी प्रकार से कुछ भी नहीं कर सकता; क्योंकि उसे पर के साथ अतत्पना है। बस, सबको तलाक! एक स्वतत्त्व का ही अवलम्बन रहा। आत्मा और परवस्तु (शरीरादि) कभी क्षेत्र से भी इकट्ठे नहीं हैं; सबका स्वक्षेत्र भिन्न-भिन्न है। आत्मा को अपने असंख्य प्रदेशोंरूपी स्वक्षेत्र से सत्पना है और शरीरादि के प्रदेशोंरूप परक्षेत्र से असत्पना है। दोनों कभी एकरूप से

इकट्ठे नहीं हुए हैं, सदैव भिन्न-भिन्न द्वित्वरूप से ही रहे हैं, तो फिर कोई किसी का क्या कर सकता है ? इसी न्याय से आत्मा तथा कर्म का भी परस्पर अतत्पना समझना। अपने स्वधर्मों से बाहर निकलकर आत्मा कभी कर्मरूप हुआ ही नहीं है, और न कर्म आत्मा के स्वरूप में आये हैं; तो फिर वे आत्मा का क्या कर सकते हैं ?

प्रश्न—क्या कर्म नहीं है ?

उत्तर—ऐसा कौन कहता है कि कर्म नहीं है ? कर्म तो कर्म में है किंतु आत्मा में नहीं है। और आत्मा में जिसका अस्तित्व नहीं है, वह आत्मा का क्या कर सकता है ? आत्मा अपने चैतन्यमय द्रव्य-गुण-पर्याय के साथ एकरूप है और कर्म के द्रव्य-गुण-पर्याय से अतत्रूप है—भिन्न है। यदि ऐसा न हो तो आत्मा और जड़ दोनों एकमेक हो जायें, इसलिये वस्तु का ही अभाव हो जाये, किंतु वस्तु के अभाव की इच्छा कौन करेगा ? नास्तिक हो, वही ऐसा मान सकता है।

एक वस्तु में कार्य होते समय दूसरी वस्तु को निमित्त कहा जाता है; वह तो उस कार्य को और उसके योग्य उपस्थित अन्यवस्तु को पहिचानने के लिये कहा जाता है; किन्तु वह अन्य वस्तु कुछ कर देती है—ऐसा बतलाने के लिये उसे निमित्त नहीं कहा जाता। निमित्त के साथ तो कार्य का अतत्पना है। जिसे जिसके साथ अतत्पना, उसमें वह कुछ नहीं करता, इसलिये निमित्त अकिंचित्कर है।—ऐसा जो नहीं मानते किंतु ऐसा मानते हैं कि कार्य में निमित्त कुछ न कुछ करता है; वे वस्तु की तत्-अतत् शक्ति को नहीं जानते; अनेकांतमय वस्तुस्वरूप को नहीं पहिचानते; इसलिये वे मिथ्यादृष्टि है।

यह देव-गुरु-शास्त्र सच्चे और इनसे विरुद्ध कथन करनेवाले अन्य भी सच्चे—ऐसा जो मानता है, अथवा तो क्या सत्य होगा ?—उसके सन्देह में रहते हैं और सत्य का निर्णय नहीं करते उनके अज्ञान का नाश नहीं होता। रबड़ी-मलाई में जरा-सा विष पड़ा हो तो लोग उसे नहीं खाते। अरे ! विष न हो, किन्तु 'इसमें विष पड़ा होगा'—ऐसी शंका हो जाये, तब भी उस रबड़ी को नहीं खाते, तो फिर यहाँ धर्म में सच्चे देव-गुरु-शास्त्र और कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र—दोनों को समान मानकर उनका आदर करना, वह तो अमृत और विष को एकमेक करने के समान हैं। और सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को मानने पर भी यदि स्वयं अपने ज्ञान में सत्य का निर्णय न करे तो सत्य का लाभ नहीं होता; इसलिये अपने ज्ञान में सत्-असत् का विवेक करना चाहिये। पैसादि की प्राप्ति तो बुद्धि के बिना पुण्य से हो जाती है, किंतु धर्म की प्राप्ति विवेकबुद्धि के बिना नहीं होती।

पुण्य के बिना पैसे की प्राप्ति नहीं होती। यदि पुण्य के फलस्वरूप पैसे के ढेर लग जायें तो

उससे आत्मा को क्या लाभ ? और पैसा न मिले तो उससे आत्मा को हानि भी क्या ? आत्मा तो पैसादि परवस्तुओं से भिन्न-अतद्रूप है; परवस्तु उसे सुख-दुःख या लाभ-हानि का कारण नहीं है; इसलिये भाई ! जहाँ तेरा रूप नहीं है, उस ओर न देख ! जिसके साथ तेरी तद्रूपता है—ऐसे अपने स्वरूप को देख। अपने आनन्दस्वरूप में तद्रूपता होने पर तुझे अपने आनन्द का अनुभव होगा। इसके अतिरिक्त बाह्य में कल्पना के घोड़े दौड़ाकर वहाँ सुख-दुःख माने तो वह भ्रमण है। अरे भाई ! कैसी जाति ! कैसा कुटुम्ब ! कैसा सम्प्रदाय ! कहाँ का पैसा और कहाँ का शरीर !—वह सब तो आत्मा से बाहर है, तू उन सबसे पृथक् है: तेरा उन सबके साथ अतत्पना है, और अपने ज्ञान-आनन्दादि अनंत धर्मों के साथ तत्पना है। जो आत्मा का स्वरूप-अपनारूप है, उसे न जानकर विपरीत श्रद्धा से पर को अपना मानता है, वह मोह अनंत संसार का कारण है; इसलिये हे जीव ! बाह्य में अपनापन न मानकर अंतर में अपने आत्मा को देख ! वही मोक्ष का कारण है।

मैं अपने स्वभाव के साथ तत्रूप हूँ, और पर के साथ अतत्रूप हूँ—ऐसे स्वभाव का भान होने पर, जीव की पर्याय, स्वभाव में एकतारूप से परिणमित होती है, इसलिये वह पर्याय, स्वभाव में तद्रूप हुई है और राग के साथ अतद्रूप हो गई है;—इसप्रकार जिसकी पर्याय में निर्मल परिणमन हो, उसी को स्व शक्ति की यथार्थ प्रतीति हुई है। जिसकी पर्याय मात्र विभाव में ही तद्रूप होकर परिणमित होती है, वह तो राग के साथ एकता बुद्धिवाला मिथ्यादृष्टि है; उसे आत्मा की शक्ति की प्रतीति नहीं है; "राग से तथा पर से अतद्रूप"—ऐसे स्वभाव को उसने वास्तव में जाना ही नहीं है।

विरुद्ध धर्मों को धारण करनेवाली आत्मा की शक्ति कही; उसमें विरुद्ध धर्म कहने से राग-द्वेषादि को नहीं लेना चाहिये किंतु तत्-अतत्, अस्ति-नास्ति इत्यादि स्वभावरूप धर्मों को लेना चाहिये; अर्थात् विरुद्ध धर्म कहे, वे दोनों स्वभावरूप हैं और वे तो आत्मा में त्रिकाल हैं। राग, आत्मा के स्वभाव से विरुद्ध है, उस अपेक्षा से उसे भी विरुद्ध धर्म कहा जायेगा, किंतु यहाँ जो विरुद्ध धर्म कहे हैं, उनमें वह नहीं आयेगा। यह विरुद्ध धर्म तो आत्मा का नित्य स्वभाव है।

* पर से भिन्नता और अपने द्रव्य-गुण-पर्याय के साथ एकता होकर जो निर्मल परिणमन हुआ, वह '**विरुद्धधर्मत्व शक्तिवाले आत्मा का अविरुद्ध परिणमन**' है। और—

* स्वभाव की एकता को भूलकर रागादि में एकता होने से जो मलिन परिणमन हुआ, वह **विरुद्धधर्मत्व शक्तिवाले आत्मा का विरुद्ध परिणमन** है।

—इसप्रकार आत्मा की शक्तियों को पहिचानकर उस ओर उन्मुख होने से शक्तियों का निर्मल परिणमन होता है; अज्ञानी को निर्मल परिणमन नहीं होता। राग के साथ तद्रूप होकर

परिणमित हो, ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है; किन्तु राग से भिन्नतारूप तथा आनन्द में एकतारूप परिणमित हो, ऐसा आत्मा का स्वभाव है। जो अपने ऐसे स्वभाव को पहिचाने, उसे वैसा परिणमन हुए बिना नहीं रहता।

ज्ञान-आनन्द स्वभाव में एकता (-तद्रूपता), और रागादि से भिन्नता (अतद्रूपता)—इसप्रकार आत्मा में परस्पर विरुद्ध धर्म है। देखो, यह आत्मा की विरुद्धधर्मत्व शक्ति! यह विरुद्धधर्मत्व शक्ति ऐसी है कि जो आत्मा का पर से भिन्न परिणमन तथा स्वभाव में एकता कराके आत्मा को लाभरूप हो। **विरुद्धधर्मत्व शक्ति कहीं विरोध उत्पन्न करनेवाली नहीं है, परन्तु वह तो रागादि विरोधी भावों का नाश करके अविरुद्ध शान्ति देनेवाली है।**

आत्मा की अनंत शक्तियों में ऐसी तो कोई शक्ति नहीं है कि जिसके साथ अभेद परिणमन से आत्मा का अहित हो! आत्मा के गुणों के साथ अभेद परिणमन होने से लाभ ही होता है और उसी को आत्मा कहा है; बीच में विकार का परिणमन हो, वह गुणों के साथ अभेद नहीं है, इसलिये वह आत्मा नहीं है; आत्मा के गुणों का वह सच्चा परिणमन नहीं है। गुण के साथ एकता से गुण की (निर्मल-पर्याय की) उत्पत्ति होती है। गुण की ओर देखने से लाभ ही होता है और गुण की ओर न देखे, उसे विकार होता है; वह विकार कहीं गुण के कारण नहीं है, वह तो उस पर्याय का अपराध है।—इसप्रकार निर्दोष गुणों से परिपूर्ण आत्मा का भान करे तो मुक्ति हो। सम्यक्त्वी को दृष्टि अपेक्षा से तो मुक्त ही कहा है।

प्रश्न—नरक में भी मुक्ति?

उत्तर—हाँ; ऐसे शुद्धस्वभाव की दृष्टिवाला सम्यक्त्वी दृष्टि-अपेक्षा से मुक्त ही है। नरक और नरक की ओर का किंचित् वेदन—उन दोनों से अपने स्वभाव का अतत्रूप अनुभव करता है, इसलिये स्वभावदृष्टि की अपेक्षा से तो सम्यक्त्वी सर्वत्र मुक्त ही है; और उस दृष्टि के बल से एकाध भव में ही वह साक्षात् मुक्त सिद्ध परमात्मा हो जायेगा।

अहो! पहले आत्मा के ऐसे स्वभाव का अपूर्व प्रेम आना चाहिये... उसकी बात सुनते हुए भी उत्साह आना चाहिये... भाई! जो अंतर स्वरूप के प्रेम की बात है, वही तुझसे कही जा रही है, उसका तू प्रेमपूर्वक श्रवण कर! बाह्य पदार्थों के प्रति प्रेम कर-करके तू अनंत काल से दुःखी हुआ है; अब अपने आत्मा का प्रेम कर! जगत् के पदार्थों की अपेक्षा अपने आत्मा से ही अधिक प्रेम करेगा तो तेरा अपूर्व कल्याण हो जायेगा।

—यहाँ २८ वीं विरुद्धधर्मत्व शक्ति का वर्णन पूरा हुआ।

श्री पद्मनंदी आचार्य कृत श्री पद्मनंदी पंचविंशतिका के
देशव्रतोद्यन नामक अधिकार पर सत्पुरुष
श्री कानजी स्वामी का प्रवचन

देशव्रतोद्योतनम्

(प्र० भाद्रपद सुद १, गुरुवार, ता० १८-८-५५)

[गतांक १५७ से चालू]

ज्ञान दान की महिमा का वर्णन किया जा रहा है—

गाथा-१०

व्याख्या पुस्तकदानमुन्नतधियां भव्यात्मनां।
भक्त्या यत्क्रियते श्रुताश्रयमिदं दानं तदाहुर्बुधा॥
सिद्धोस्मिञ्जननान्तरेषु कतिषु त्रैलोक्य लोकोत्सवः।
श्रीकारितप्रकटिकृताखिल जगत्कैवल्यभाजोजना॥१०॥

धर्मात्मा को सर्वज्ञदेव के प्रति बहुमान आता है।

सर्वज्ञदेव द्वारा कहे हुए शास्त्रों का भक्तिपूर्वक व्याख्यान करना ज्ञानदान है। जिसे सच्चा ज्ञान प्राप्त हुआ हो, ऐसे मुनि को ज्ञान की प्रभावना करने का भाव आये बिना नहीं रहता। केवलज्ञानी पूर्ण हो गये हैं; इसलिए उनके विकल्प नहीं होता है। मिथ्यादृष्टि को ज्ञान स्वभाव का माहात्म्य नहीं है। केवलज्ञान तीन काल-तीन लोक को जानता है, वह ज्ञान आत्मा से होता है। यह कथन केवलज्ञानी के शास्त्र का है; न कि भगवान के नाम पर बनाए हुए शास्त्रों का। चिरायते की थैली पर मिसरी नाम लिखने से मिठास नहीं हो जाती; उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि के शास्त्र पर भगवान का नाम लिख दे तो नहीं चले।

ज्ञानी को सर्वप्रथम सर्वज्ञ के शास्त्र का निर्णय करना चाहिए। सर्वज्ञ की वाणी में पूर्वापर अविरोध होता है। एक तरफ तो ऐसा कहे कि केवलज्ञानी ने जो देखा होगा, वही होगा और ऐसा निर्णय स्वसन्मुख होकर सर्वज्ञस्वभाव का निर्णय-करने पर होता है, उसी में सच्चा पुरुषार्थ है और दूसरी तरफ यह कहा जाता कि निमित्त आए तो कार्य हो अन्यथा नहीं तो इस प्रकार कहनेवाले यथार्थता को नहीं समझते।

धर्मी जीव को सर्वज्ञ के प्रति बहुमान आता है। आचार्य कुंदकुंददेव को भी भगवान के दर्शन का विकल्प आया, "हे नाथ, भरतक्षेत्र में आपका वियोग हुआ, यहाँ केवलज्ञानी नहीं हैं।" उन्हें अन्तर में भक्ति का भाव हुआ; पुण्य योग था, इसलिए सीमंधर भगवान के दर्शन मिले और विदेह में ८ दिन रहे। वे अपने समय के मुख्य आचार्य थे, वे समझते थे कि मेरे पर जैन शासन का महान् उत्तरदायित्व है, ऐसा विचारते हुए उन्हें परमात्मा का विरह लगता था।

आदिनाथ भगवान के निर्वाण के अवसर पर भरत चक्रवर्ती के भी आंसू आ गये। "अहो, भरतक्षेत्र में केवलज्ञान का सूर्य अस्त हो गया! अहा, अब तक प्रश्नों का समाधान होता था, प्रत्यक्ष भक्ति करते थे, अब परोक्ष भक्ति करेंगे।" इन्द्र, भरत को सान्त्वना देता है, तब भरत कहता है कि मैं वास्तविकता जानता हूँ, किन्तु रागभाव है, इसलिये आंसू आ जाते हैं, भक्ति का भाव आये बिना नहीं रहता।

शास्त्र का भक्तिपूर्वक व्याख्यान ज्ञानदान है।

सर्वज्ञदेव के शास्त्र का भक्तिपूर्वक व्याख्यान करना ज्ञानदान है। मुनि ऐसा ज्ञानदान करते हैं। वे स्वभाव का मंथन करते हैं, और अशुभ दूर हो जाता है। लोग इसे समझें तो अच्छा हो, ऐसा राग होता है। सम्यक्दृष्टि और श्रावक भी ऐसा व्याख्यान दे सकते हैं। जिस व्याख्यान से जगत की शंका दूर हो, वैसा व्याख्यान करना ज्ञानदान देना है।

साधर्मी को पुस्तक दान भी ज्ञानदान है।

साधर्मी निर्धन हो, किन्तु विशाल बुद्धिवाला हो, अनेकान्त का मर्म समझता हो, वह सत्य को समझता है; इसलिए धर्मात्मा उसे पुस्तक देता है। उसकी स्वभाव की तरफ दृष्टि है, वह अशुभ से बचता है और पुस्तक का प्रचार करता है। धर्मात्मा भव्य जीवों को धर्म प्रचारार्थ कम मूल्य में भी पुस्तकें बेचता है, यह भी ज्ञानदान ही है। स्वयं को रागरहित श्रद्धा-ज्ञान का दान मिला है, इसलिए श्रावक को शुभराग आता है। अहो! धर्मी जीव इस प्रकार शास्त्रों का पठन-पाठन करे; इसलिए पाँच रुपये की पुस्तक दो रुपयों में देता है। जिसे सम्यक्ज्ञान की रुचि है, उसे सम्यक्ज्ञान के प्रचार का भाव आये बिना नहीं रहता, तथापि उसे पुण्य ही समझता है। स्वभाव की एकता हो, वह कल्याणकारी है। मुनि को भी ज्ञानदान का भाव आता है। श्रावक, शास्त्रदान करते हैं किन्तु आज कल तो धनी भी सस्ती पुस्तक चाहते हैं, ऐसी वृत्ति धर्मात्मा नहीं करते। जिसकी दृष्टि स्वभाव पर है, उसे दान का शुभराग होता है।

इस शुभराग से ऐसे केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, जिसकी तीन लोक के जीव उत्साहपूर्वक भक्ति व आराधना करते हैं व जिससे तीन लोक के पदार्थ हस्त-रेखा के समान प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं। श्रावक को ज्ञान की महिमा का भान हो गया है, वह अशुभ टालता है, शुभ करता है और फिर क्रमशः शुभ को टालकर केवलज्ञान प्रगट करेगा, ऐसा श्रावक ही शास्त्रदान करता है और उससे परम्परा से केवलज्ञान की प्राप्ति होगी। तीर्थंकर के कल्याणक तीन लोक के लिए उत्साह के कारण हैं, इसलिए श्रावक का ज्ञानदान मुख्य कर्तव्य है।

आत्मभानपूर्वक ज्ञानदान करनेवाला श्रावक केवलज्ञान प्राप्त करेगा।

भावार्थः—यह अधिकार श्रावक धर्म का उद्योतन अर्थात् प्रकाशनवाला है। सर्वज्ञ भगवान ने एक समय में तीन काल और तीन लोक जाना है, ऐसे मार्ग की श्रावक को महिमा आती है, उसकी श्रद्धा भी रहती है और आगे बढ़ने पर आंशिक शांति प्राप्त होती है। उसे शुभराग कैसे होता है? इस प्रकरण में ज्ञानदान का कथन चलता है। धर्मात्मा श्रावक, शास्त्र का व्याख्यान करते हैं किन्तु व्याख्यान तो विशिष्ट ज्ञानी ही कर सकता है। आत्मा का स्वभाव क्या है? इत्यादि विभिन्न प्रकार से विचार करनेवाला व्याख्यान करता है। जिसे धर्म का ज्ञान है, अधर्म का विवेक है, पुण्य-पाप, स्वभाव से विपरीत भाव हैं और शुद्ध चैतन्यस्वभाव में अनन्त शक्ति है—ऐसे भानपूर्वक स्वभाव-बुद्धिवाला श्रावक अपने को स्वयं ही ज्ञानदान करता है और दूसरों को भी देता है। जिनसे यथार्थ ज्ञान की प्रभावना हो और दूसरों के यथार्थ ज्ञान की दृढ़ता हो—ऐसे शास्त्र धर्मात्मा लिखते हैं और पठन-पाठन करते हैं। ऐसे ज्ञान का दान करनेवाले श्रावक को केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। इसलिए हित चाहनेवाले भव्य जीवों को उत्तम दान अवश्य करना चाहिए। अपना ज्ञानस्वभाव शक्तिवान है, उस शक्ति में से केवलज्ञान विकसित होता है। ऐसी स्वभावोन्मुखता की खबर जिसे है, उसे इच्छा होती है कि सब प्राणी वीतरागी स्वभाव की रुचि प्राप्त करें। ऐसे भाव में तीर्थंकर-नामकर्म की प्रकृति का बंध होता है, इतना होते हुए भी वह शुभराग को हेय समझता है। बारम्बार स्वाध्याय करना, विचार करना चाहिए। आत्मा क्या है? विकार क्या है? सुख-दुःख का कारण क्या है? संयोग क्या है? इस प्रयोजनभूत बात का अनन्त काल से ज्ञान नहीं है, इसलिए ये संसारी जीव संसार में भटक रहे हैं।

तत्त्वविचारपूर्वक रोजना दो चार घण्टे स्वाध्याय करे, उसका दिन सफल है। आत्मा का भान करके एकाग्र होना ध्यान है। ध्यान सबसे उत्तम है, फिर स्वाध्याय उत्तम कहा गया है; इसलिए

बार-बार स्वाध्याय करना चाहिए। ये संयोग छूट जायेंगे, यह शरीर नहीं पड़ा रहेगा; इसलिए आत्मा क्या है—इसका ज्ञान और ध्यान बिना जिसका जीवन व्यर्थ ही बीता जा रहा है, वह श्रावक नहीं कहलाता।

देखो! भगवान् के विरह में मुनि भी भक्तिपूर्वक उल्लसित हो जाते हैं, उन्हें जहाँ-तहाँ भगवान् ही दिखाई देते हैं।

जिनेन्द्र भगवान की पूजा करनी चाहिए। भगवान के विरह में प्रतिमा का दर्शन, पूजन करने चाहिये। मुनि भी भगवान के विरह में खेद करते हैं; उनकी भक्ति प्रगट होती है कि हे नाथ!

''चलते फिरते प्रगट प्रभु देखूँ रे!
मेरा जीवन सफल तब लेखूँ रे।''

धर्मात्मा, परमात्मा को पुकारते हैं। परमात्मा कहाँ विराजता है, ऐसी खटक लगी रहती है। हे भगवान! यह आकाश में सूर्य है किन्तु मुझे तो ऐसा लगता है कि जब आप मुनिदशा में थे, उस समय आत्मा में लवलीन हो गये और ध्यान करने लगे, तब ध्यानाग्नि प्रगट हुई और राग के अभावरूप वैराग्य की हवा चली, आठों कर्म जलने लगे और उनमें से एक अंगारा इस सूर्य के रूप में प्रगट हुआ। अज्ञानी जीव को स्त्री, संतान, कुटुम्ब आदि के स्वप्न आते हैं और उनके कषाय की होली सुलगती है और मुनियों को हलते-चलते जहाँ देखो वही भगवान ही दिखाई देते हैं। ध्यानरूपी अग्नि जली, तब उसमें कर्म जलने लगे, उसमें से एक चिनगारी ने सूर्य का रूप धारण किया।

मुनि आगे कहते हैं:-हे भगवान! आपके जो काले बाल दिखाई देते हैं वे, अपने कर्म जलाये उनका धुआँ मालूम देता है। इसप्रकार धर्मी, सूर्य और बालों में भगवान को देखते हैं। श्रावक, जिनेन्द्र भगवान को देखते हैं। श्रावक, जिनेन्द्र भगवान की पूजा, गुरु की सेवा करते हैं। जीवों को जिनेन्द्र भगवान के शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिए। जो नहीं करता है, उसको कान और मन नहीं मिले हैं। आत्मभानवाले साधक को भगवान की भक्ति, स्वाध्याय, चर्चा आदि करने का भाव आता है।

गाथा-११

सर्वेषामभयं प्रवृद्धकरुणैर्यद्दीयते प्राणिनां।
दानं स्यादभयादि तेन रहितं दानत्रयं निष्फलम्॥
आहारौषधशास्त्रदानविधिभिः क्षुद्रोगजाड्याद्भयं।
यत्तत्पात्रजने विनश्यति ततो दानं तदेकं परम्॥११॥

समस्त प्राणी आत्मा हैं—ऐसा समझकर उन्हें दुःख न देने का भाव अभयदान है।

धर्मात्मा को भव्य अर्थात् योग्य जीवों के प्रति करुणा उत्पन्न होती है। मुझे दूसरे को दुख नहीं देना चाहिए, आत्मा के प्रति अभय रुचि हुई, इसलिए सब प्राणियों को दुख न देवूं—ऐसा भाव होता है, इसे व्यवहार में रक्षा करना कहा जाता है। अन्य प्राणियों को मेरी तरफ से अभय है, मेरे से उन्हें दुःख न हो, ऐसा अभयदान का भाव आता है। अन्य प्राणियों को आत्मा समान देखकर उनके प्रति अभय भाव नहीं आवे तो तीनों दान व्यर्थ हैं। आहारदान से भूख का भय दूर होता है, औषधदान से रोग का भय और शास्त्रदान से मूर्खता का भय नष्ट होता है। इसलिये अभयदान सबमें उत्कृष्ट दान है। मेरे से किसी को भय न हो—ऐसा भाव धर्मात्मा को आता ही है। उसके अनन्तानुबन्धी का अभाव है, इसलिये किसी के प्रति वैर न हो, ऐसी वृत्ति धर्मात्मा को होती ही है।

भावार्थः—अभय अर्थात् भय न होना। यदि आहार, औषध तथा शास्त्रदान करने से भूख, रोग और मूर्खता जनित भय दूर होते हैं तो तीनों दान अभयदान के आधीन हैं, इसलिये अभयदान सब दानों में उत्तम है। समस्त प्राणी परमात्मा समान हैं—ऐसी बुद्धि हुये बिना आहार, ज्ञान तथा औषधदान यथार्थ नहीं होते, इसलिये अभयदान उत्कृष्ट दान है।

गाथा-१२

आहारात्सुखितौषधादितितरां निरोगता जायते।
शास्त्रात्पात्रनिवेदितात्परभवे पाण्डित्यमत्यद्भ तम्॥
एतत् सर्वगुणप्रभापरिकरः पुंसोऽभयाद्दानतः।
पर्यंते पुनरुन्नतोन्नतपदप्राप्तिर्विमुक्तिस्ततः॥१२॥

सम्यग्दृष्टि औषधिदान के फल से चक्रवर्ती, बलदेव आदि का पद प्राप्त कर मुक्त होते हैं।

समस्त आत्मा, परमात्मा समान हैं, ऐसे भानवाले को अभयदान का भाव आता है। मुनि, श्रावक, ब्रह्मचारी, सम्यक्त्वी आदि सत्पात्रों को आहार देने के फलस्वरूप इन्द्र, चक्रवर्ती, बलदेव आदि पदों की प्राप्ति होती है। सम्यक्त्वी को राग और उसके फल की इच्छा नहीं होती। अच्छा किसान घास के लिये खेती नहीं करता किन्तु जहाँ सौ मण अनाज हो, वहाँ घास सहज ही होगा; उसी प्रकार धर्मात्मा शुद्धभाव की नजर रखता है, इसलिये उसे जहाँ धर्म होता है, वहाँ पुण्य भी सहज ही होगा। मिथ्यादृष्टि को तीर्थंकर, बलदेव आदि पद नहीं मिलते किन्तु वह मुनि, ब्रह्मचारी, श्रावक को आहारदान आदि के फलस्वरूप भोगभूमि में जन्म लेता है। भोगभूमि में जुगलिया-

भाई-बहन के रूप में जन्म लेते हैं और वे पति-पत्नी होते हैं, उन्हें व्यापार उद्योग नहीं करना पड़ता, वहाँ कल्पवृक्ष होते हैं, वहाँ के मनुष्यों की तीन पल्योपम की आयु होती है। यहाँ धर्मात्मा के लिये कथन है, वे स्वभाव की निधि का अवलोकन करते हैं। अहो! आत्मा ज्ञानस्वभाव है, ऐसे ज्ञानवाले को शुभराग आते हैं, इससे चक्रवर्ती आदि पद की प्राप्ति होती है। दस हजार गायों को गन्ना खिलाते हैं, उनका दूध हजार गायों को पिलाया जाता है, उन हजार गायों का दूध सौ गायों को पिलाया जाता है। इस प्रकार करते हुये सबसे अच्छे दूध की खीर बनाई जाती है, जिसका एक कौर भी करोड़ों पैदल नहीं पचा सकते—ऐसी खीर का भोजन चक्रवर्ती करते हैं।

प्रद्युम्नकुमार सोलह वर्ष की उम्र में क्षुल्लक वेश बनाकर अपनी माता (रुक्मणि) के पास आये। जो शिंग केसरिया लाडु वासुदेव ही पचा सकते थे, उनको प्रद्युम्नकुमार पचा जाते हैं। तत्पश्चात् वे अपना असली स्वरूप प्रकट करते हैं और कहते हैं कि मैं तुम्हारा पुत्र हूँ। प्रद्युम्नकुमार कामदेव थे, छह खंड में उनके समान किसी का रूप नहीं, किन्तु वे भी सबकुछ छोड़-छाड़कर मुनि बनकर मोक्ष गए। पहले औषधिदान दिया, उसके फल में उन्हें ऐसा शरीर मिला था। तीर्थंकर भगवान का जन्म होने पर इन्द्र उनके शरीर को हजार नेत्र से देखते हुए भी तृप्त नहीं होता। उन्होंने पूर्वभव में ऐसा पुण्यार्जन किया था, जिसके फलस्वरूप ऐसा शरीर मिला।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने अपने पूर्वभव में मुनि को शास्त्रदान दिया था। उनके पूर्वभव की कथा है कि एक बार सारे जंगल में आग लग गई, वहीं शास्त्र की पेटी थी किन्तु उन्होंने प्राणों की चिन्ता न करते हुए उसकी रक्षा की और बड़ी भक्तिपूर्वक वे शास्त्र, मुनि को दिये। इसी दान के फल में श्रेष्ठ पुत्र हुए (कुन्दकुन्द हुए)। मुनि हुए बाद ऋद्धि प्राप्त हुई और विदेहक्षेत्र में गये। वहाँ आठ दिन तक भगवान की वाणी अपने कानों से सुनने का शुभावसर मिला। बाद में परमागम रचे, इसी कारण मंगलाचरण में उनका तीसरा स्थान है।

''मंगलम् भगवान् वीरो मंगल गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोस्तु मंगलम्॥''

जिसने अपने पूर्व भव में शास्त्र का अनादर किया हो, उसकी बुद्धि इस जन्म में अल्प-विकसित होती है। उसे व्यापार सम्बन्धी बात भले ही याद रहे किन्तु आत्मा की बात याद नहीं रहती। यह सब पूर्व भव में शास्त्र की अमान्यता, अपमान किए, उनका फल है। ज्ञानदान से मूर्खता का नाश होता है। देखो! दिगम्बर मुनि आत्मा में झूल रहे थे। उन्हें लगा कि जीव संसारचक्र में

भटक रहे हैं, उनके लिए शास्त्र रचना करूँ और उन्होंने शास्त्र रचना की। श्रीमद् रायचन्द जी ने इसे 'अमृत शास्त्र' कहा है।

समस्त आत्मा पूर्ण स्वभावी हैं—ऐसे भानसहित जो दूसरों को अभयदान देता है, उसे सुख और निरोगता मिलती है। चक्रवर्ती आदि उत्तम पद प्राप्त होकर अन्त में मुक्ति मिलती है। अतः उत्तमोत्तम सुख, निरोगता आदि गुणों के इच्छुक जीवों को चार प्रकार का दान करना चाहिए। श्रावक अवस्थारूपी दुकान में शुभभाव का व्यापार होता है।

गाथा-१३

कृत्वा कार्यशतानि पापबहुलान्याश्रित्य खेदं परं।
भ्रान्त्वा वारिधि मेखलां वसुमतीं दुखेन यध्वार्जितम्॥
तत्पुत्रादपि जीवितादपि धनं प्रेमोऽस्य पन्था शुभो।
दानं तेन च दीयतामिदमहो नान्येन तत्सद्गति॥१३॥

अज्ञानी को पुत्र और जीवन की अपेक्षा लक्ष्मी अधिक प्रिय लगती है।

अहो! यह मनुष्य गृहस्थाश्रम में सैकड़ों पाप—हिंसा, झूठ, चोरी, विषय भोग आदि के पाप भाव करता है। वह प्रातःकाल से संध्या तक पाप कर्म कर खेद खिन्न होता है। धनार्जन के लिए वह भूख, प्यास सहता है, अपना घर छोड़कर बम्बई, कलकत्ता, रंगून, अफ्रीका आदि स्थानों पर जाता है। व्यापार का भाव पापभाव है। यह मनुष्य सुबह से शाम तक पाप का भाव करता रहता है। स्त्री, पुत्र आदि के पोषण में, सगाई-व्याह करने में, गहना, कपड़ा बनाने में, इत्यादि ऐसे ही अन्य कार्यों में पाप भाव करता रहता है। लड़के-लड़कियों के विवाह में खर्च करना भी ऐसे ही कार्यों में शामिल है जिनमें पाप होता है और जिनके करने से इस जीव को दुःख होता है। बीमार होते हुए भी यह मनुष्य दुकान पर जाता है किन्तु धर्म चर्चा सुनने के लिए नहीं जाता। वह दमा का रोग होते हुए भी दुकान जाता है, कष्ट सहन करता है और अगर पूर्व पुण्य के योग से लक्ष्मी मिल जाती है तो उसे पुत्र से भी अधिक प्रिय समझता है। एक लड़के को मैनेन्जाइटीस हुआ और निदान कराने पर डाक्टरों ने बताया कि इसकी दवा में दस हजार रुपये खर्च होंगे किन्तु रुपयों का लोभ करता है और लड़के के मरने की परवाह नहीं करता। अपने शरीर में भी बीमारी हो जाये तो भी वह एक पैसा खर्च नहीं करना चाहता। उसे लक्ष्मी से सबसे अधिक प्रेम है, उसे जिन्दगी से भी अधिक प्रिय मानता है। ग्राहकों से, पैसे के कारण उसे इतना अधिक प्रेम है कि प्राणों को कुछ नहीं समझता।

लक्ष्मी का उपयोग दान में किया जाये तभी उसकी सार्थकता है।

जीवन से भी प्यारी लक्ष्मी का उपयोग दान में किया जाये, तभी उसकी सफलता और सार्थकता है। जंगल में निवास करनेवाले मुनि कहते हैं कि लक्ष्मी को खर्च करने का उत्तम मार्ग तो दान मार्ग है। जिसे दान करने का राग नहीं आवे, उसको वास्तविक दृष्टि प्राप्त नहीं हुई। चन्द्रकान्त -मणि का, चन्द्रकिरणों के स्पर्श बिना, सही मूल्यांकन नहीं किया जा सकता क्योंकि उन्हीं के स्पर्श से चन्द्रकान्तमणि में शीतल जल झरता है। इसी प्रकार लक्ष्मी के पत्थरों की—चांदी, सोने, सिक्के, जवाहरात की सफलता क्या? राग कम कर उसका दान किया जाये, तभी लक्ष्मी की सफलता है। व्यापार में खूब ध्यान रखता है कि कोई लूट न ले जाये, कोई चोरी न कर ले, ये सब भाव पापभाव हैं। इसलिए लक्ष्मी के उपयोग का मार्ग दान है, इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है। जिसे लक्ष्मी का उपयोग दान में करने का भाव नहीं आता, वह धर्मी नहीं है। प्रत्येक दिन ऐसा भाव करना चाहिए। दान का भाव नहीं आवे तो गृहस्थाश्रम निष्फल है। अनेक पाप और दुःखों से प्राप्त लक्ष्मी पुत्र और जीवन से भी प्रिय है, ऐसी लक्ष्मी का सदुपयोग दान में ही है। जिसे आत्मस्वभाव की दृष्टि है, उसे धर्मात्मा की सहायता करने का भाव आता है। उन्हें लक्ष्मी का उपयोग—दान करने का भाव नहीं आवे तो आत्मा की रुचि नहीं है, ऐसा जानना।

दान करने का उपदेश सुनकर कोमल जीव, राग कम कर दान देते हैं।

दान का उपदेश लोभी प्राणियों के उद्धार के लिए है। चमेली के फूल पर जब भ्रमर गुंजार करता हुआ आता है तो फूल विकसित हो जाता है किंतु लकड़ी का फूल भ्रमर के गुंजार से नहीं खिलता। पाप कार्यों द्वारा लक्ष्मी मिली है, उसे दान में लगाने का उपदेश भ्रमर गुंजार सदृश है, वह किसे सुनाई पड़ता है? जिनका हृदय लकड़ी के फूल की तरह है, उन पर दान के उपदेश का कोई असर नहीं पड़ता। चन्द्रमा की किरणों से कुमोदनी ही खिलती है किन्तु संगमरमर की कुमोदनी नहीं खिलती। इसी प्रकार दान का राग कम करने का उपदेशरूपी गुंजार किसे लागू होती है? जिसका हृदय लकड़ी या पत्थर के कमल की तरह नहीं होगा, उसी को यह उपदेश प्रभावित करता है। लकड़ी के फूल की तरह हृदयवालों को यह उपदेश प्रभावित नहीं करता। लोभरूपी कन्दरा में पड़े हुए लोभी-कंजूस के लिए यह उपदेश है, किन्तु फूल जैसे कोमल हृदयवालों को ही यह लागू पड़ता है।

राग के अभावस्वरूप आत्मा की दृष्टि रखनेवाला लक्ष्मी का सदुपयोग दान में करता है।

धन खर्च करने का मार्ग दान है। यहाँ स्त्री, लड़का-लड़की के लिए खर्च करने की बात नहीं है। जगत के प्राणियों को पैसा मिला है, उसमें राग घटाकर धर्म की प्रभावना करने का राग धर्मात्मा को आता है, वहाँ लक्ष्मी का सदुपयोग व्यवहार से कहा है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई उत्तम मार्ग नहीं है। जिसे राग के अभावस्वरूप आत्मा पर दृष्टि है, उसे राग कम कर दान का भाव आए बिना नहीं रहता, इसलिये सज्जन पुरुषों को दान मार्ग में पैसा लगाने में लोभ नहीं करना चाहिये। एक पैसा भी साथ नहीं जायेगा, सब यहीं पड़ा रहेगा। जितनी लक्ष्मी दान में देगा, उतनी ही तेरी है, बाकी की लक्ष्मी का तो तू रक्षक मात्र है। पूर्ण शुद्धता प्रकट करने की आकांक्षावाले और राग का सर्वथा अभाव करने के इच्छुक राग कम किये बिना नहीं रहेंगे। जिस घर में दानादिक की क्रिया नहीं होती, वह घर गहरी खाई में डूब जायेगा। भानपूर्वक शुभराग का दान किया होगा तो संस्कार बने रहेंगे। ''अहो! मैं अभी तक पूर्ण नहीं हुआ, इसलिये यह शुभराग आता है। अब मैं राग नष्टकर पूर्ण होऊंगा, इसलिये सज्जन पुरुषों को दान में पैसा लगाना चाहिये।'' ऐसी भावना श्रेयस्कर है।

जिनागम का ढंढेरा

यह जिनागम का प्रसिद्ध ढंढेरा है कि—मोक्ष के लिये ज्ञानस्वरूप आत्मा की अनुभूति करो। शुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मा के अनुभव द्वारा ही मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है; और उस अनुभूति को ही भगवान ने मोक्ष का कारण कहा है।

कलश १०५ में आचार्यदेव कहते हैं कि—आत्मा ज्ञानस्वरूप परिणमित हो, वही मोक्ष का हेतु है; उसके अतिरिक्त अन्य जो कुछ है, वह बंध का हेतु है:—

—ततो ज्ञानात्मत्वं भवनमनुभूतिर्हि विहितम्।

इसलिये ज्ञानस्वरूप होने का अर्थात् अनुभूति करने का ही आगम में विधान है।

देखो, यह जिनागम की आज्ञा! जिनागम का आदेश!

मुमुक्षु को एक शुद्ध ज्ञान के अवलम्बन से, सहज आनन्द से विलसित यह चैतन्य पद प्राप्त करने योग्य है।

परम शांतिदायिनी
अध्यात्म-भावना

भगवान श्री पूज्यपाद स्वामी रचित 'समाधिशतक'
पर सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के
अध्यात्म भरपूर-वैराग्यप्रेरक
प्रवचनों का सार

[६]

यह समाधिशतक है; समाधि का अर्थ क्या ?—आधि-व्याधि और उपाधिरहित आत्मा की सहज शांति, सो समाधि है; अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, सो समाधि है; अथवा निर्विकल्प आनन्द के अनुभव में लीनता, सो समाधि है। वह समाधि कैसे होती है ?—कि देहादि से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा का भान करके, उसमें एकाग्रता से समाधि होती है। आत्मा को देहादि से भिन्न न जाने और रागादि युक्त माने तो उसे समाधि नहीं होती, किन्तु भ्रान्ति होती है।—ऐसी भ्रान्ति, वह बहिरात्मदशा है। जिसे सिद्ध-समान, ज्ञान-आनन्द से परिपूर्ण, देहादिक से भिन्न ऐसे आत्मा की अंतर्दृष्टि है, वह अंतरात्मा है। 'देह मैं, राग मैं'—इस प्रकार पर में आत्मा के संकल्प-विकल्प से जो रहित है और निर्विकल्प प्रीतिसहित है, वह अंतरात्मा है। फिर चैतन्य में लीन होकर, जिन्होंने केवलज्ञान और परिपूर्ण आनन्द प्रगट किया, वे परमात्मा हैं। वह परमात्मदशा, परम उपादेय है।

भगवान ने चैतन्यस्वभाव को देहादिक से भिन्न जानकर उसके अवलम्बन से सर्वज्ञता एवं आत्मा का स्वाधीन अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट किया। वे भगवान परमात्मा, सर्वज्ञ-वीतराग तथा परम हितोपदेशी हैं; आनन्द से परिपूर्ण निज रस का पान करते हैं, आत्मा से ही उत्पन्न ऐसे परम स्वाधीन अनंत सुख के उपभोग में सदैव लीन हैं। देखो, भगवान परमात्मा कैसे हैं ?—सर्वज्ञ-वीतराग, परम हितोपदेशी हैं। स्वयं सर्वज्ञ-वीतराग हुए और अन्य जीवों को भी अंतरंगस्वरूप के अवलम्बन से सर्वज्ञ-वीतराग होने का उपदेश दिया। महाविदेह में सीमंधर परमात्मा साक्षात् विराजमान हैं; समवशरण में उनका ऐसा उपदेश है कि तुम्हारा स्वभाव परिपूर्ण ज्ञान और आनन्दस्वरूप है, राग

का एक अंश भी ज्ञानस्वभाव में नहीं है;—ऐसे स्वभाव का अवलम्बन करो। भगवान का उपदेश वीतरागता का है; राग रखने का उपदेश नहीं है। यदि राग से लाभ होता हो तो भगवान स्वयं राग को छोड़कर वीतराग क्यों होते? और जो वीतराग हुये, वे राग से लाभ होना कैसे कह सकते हैं? भगवान का ऐसा उपदेश है ही नहीं कि राग से लाभ होता है। राग से लाभ होता है—ऐसा उपदेश, वह हितोपदेश नहीं, किंतु अहितोपदेश है।

आत्मा, पर का कार्य करता है—ऐसा जो मानता है, वह पर का राग कैसे छोड़ सकेगा? अथवा पर से आत्मा को लाभ माने तो वह पर का राग कैसे छोड़ेगा? और जो राग से लाभ मानता है, वह राग को छोड़ने योग्य क्यों मानेगा? राग को जो आदरणीय मानता है, वह रागरहित वीतरागी सर्वज्ञ परमात्मा को पहिचानता ही नहीं है।

भगवान तो परम हित का ही उपदेश देनेवाले हैं। वे बंध का तथा अहित के कारणों का ज्ञान कराते हैं और उन्हें छुड़वाते हैं तथा हित के कारणरूप सम्यग्दर्शनादि की प्राप्त कराते हैं।

देखो, आज ग्रन्थाधिराज समयसार की प्रतिष्ठा का दिन है। अठारह वर्ष पूर्व इस जैन स्वाध्याय मन्दिर का उद्घाटन हुआ था, उस समय यहाँ श्री 'समयसार' की विधिपूर्वक प्रतिष्ठा (बहिनश्री चंपाबेन के हस्त से) हुई थी। समयसार, अर्थात् शुद्ध आत्मा। प्रत्येक आत्मा शक्तिरूप से शुद्धस्वभाव से परिपूर्ण 'कारणसमयसार' है, उसे कारणपरमात्मा कहते हैं; यह समयसार उस कारणसमयसारस्वरूप शुद्ध आत्मा का स्वरूप बतलाता है। उस कारणसमयसार की दृष्टि करने पर उसके आश्रय से अनंत चतुष्टयस्वरूप कार्यपरमात्मपना विकसित हो जायेगा, वह कार्यसमयसार है। जिसने ऐसे कारणसमयसार शुद्ध आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान रमणता की, उसने अपने आत्मा में भगवान समयसार की स्थापना की।—ऐसी समयसार की स्थापना का यह दिन है। इस समयसार में भगवान की दिव्यध्वनि में कहा हुआ उपदेश कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने गूँथा है। महाविदेह क्षेत्र में सीमंधर परमात्मा साक्षात् विराजमान हैं; उनकी यहाँ जिनमन्दिर में स्थापना है और उन भगवान ने दिव्यध्वनि में जो कुछ कहा है, उसे श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने समयसार में भरा है; उस समयसार की यहाँ स्वाध्यायमन्दिर में स्थापना है। कुन्दकुन्दाचार्यदेव इसी देश में हो चुके हैं। वे महाविदेह में गये थे और वहाँ भगवान की दिव्यध्वनि का श्रवण करके फिर इस समयसार की रचना की थी; यह समयसार अंतर के कारणसमयसार का वाचक है और उस कारणसमयसार के आश्रय से कार्यसमयसार हुआ जाता है।—इसप्रकार तीन 'समयसार' हुए;—एक, कारणसमयसार, उसके

आश्रय से होनेवाला कार्यसमयसार, और उसके वाचकरूप यह परमागम समयसार। ऐसे शुद्ध समयसार को पहिचानकर आत्मा में उसकी स्थापना करे तो उसके आश्रय से मोक्ष के कारणरूप सम्यग्दर्शनादि प्रगट हों। यह बात अपूर्व है; पहले कभी ऐसे आत्मा की श्रद्धा या पहिचान नहीं की। अरिहंत परमात्मा हुए, वे तो कार्यपरमात्मा हैं; और उस कार्य का जो कारण है, वह त्रिकाली कारणपरमात्मा है। पहली ही बार यह बात सुनकर बहुमानपूर्वक स्वीकार करे और उसका निर्णय करके विश्वास करे, यह धर्म की अपूर्व प्रारम्भ है। ज्ञानस्वभाव का लक्ष करना ही परम हित का मार्ग है; और ऐसे हित का ही उपदेश भगवान ने दिया है। अर्थात् ज्ञानस्वभावोन्मुख होने का ही भगवान का उपदेश है—पराश्रय का उपदेश नहीं है; उसे तो छोड़ने का उपदेश है। जो ऐसा निर्णय करे, उसने भगवान परमात्मा को और उनके हितोपदेश को जाना है; किन्तु जो रागादि से लाभ मानता है, उसने हितोपदेशी सर्वज्ञ-वीतराग परमात्मा को नहीं माना है।

अरिहंत परमात्मा अभी देहसहित हैं, वे दिव्यध्वनि द्वारा उपदेश देते हैं; और सिद्धपरमात्मा देहरहित हो गये हैं, वे लोकाग्र में विराजमान हैं। अरिहंत और सिद्ध परमात्मा, इन्द्रिय-विषयरहित निजानन्द का अनुभव करते हैं। ऐसे भगवान के आनन्द को पहिचाने तो आत्मा के आनन्दस्वभाव की प्रतीति हो जाये और इन्द्रिय-विषयों में से सुखबुद्धि दूर हो जाये। भगवान सादि-अनंत अपने अतीन्द्रिय आनन्दरस का पान करते हैं; कृतकृत्य परमात्मा हैं; अपने अतीन्द्रिय ज्ञान-आनन्द के उपभोग के अतिरिक्त दूसरा कोई कार्य उनके नहीं रहा है आत्मा की शक्ति में से जो आनन्द उछल रहा है, उसी के अनुभव से वे कृतकृत्य है। ऐसी कृतकृत्य परमात्मदशा जीव को परमहितरूप है और वही सर्व प्रकार से उपादेय है।

—इसप्रकार बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा का स्वरूप कहा।

❋ ❋ ❋

(ज्येष्ठ कृष्णा ९, वीर सं० २४८२, समाधिशतक गाथा ६)

अब छठवीं गाथा में परमात्मा के दूसरे नामों का कथन करते हैं:—

निर्मलः केवलः शुद्धो विविक्तः प्रभुरव्ययः।
परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः ॥६॥

निर्मल, केवल, शुद्ध, विविक्त, प्रभु, अव्यय, परमेष्ठी, परात्मा, परमात्मा, ईश्वर, और जिन इत्यादि नाम परमात्मा के वाचक हैं।

भगवान परमात्मा द्रव्यकर्म तथा भावकर्मरूप मल से रहित होने के कारण 'निर्मल' हैं। शरीरादि के सम्बन्धरहित होने से 'केवल' हैं। अरिहंत परमात्मा भी वास्तव में शरीरादि के सम्बन्ध से रहित हैं, क्योंकि शरीर अथवा इन्द्रियजनित सुख-दुःख या ज्ञान उनके नहीं है; वे अतीन्द्रिय हो गये हैं। द्रव्यकर्म-भावकर्म का अभाव होने से वे 'शुद्ध' हैं। चार घातिकर्म दूर हुए, वहाँ शेष चार अघाति कर्मों का भी क्षय होता रहता है; वे रागादि अशुद्धता उत्पन्न नहीं करते, इसलिये अरिहंत भगवान भी परम विशुद्धि को प्राप्त हुए होने से 'शुद्ध' हैं। रागादि से अत्यन्त भिन्न हो जाने के कारण भगवान, 'विविक्त' है। इन्द्रादि के स्वामी होने से 'प्रभु' है। केवल ज्ञानादि जो अनंत चतुष्टय प्रगट हुए, उनसे कभी च्युत नहीं होते; इसलिये वे 'अव्यय' हैं। इन्द्रादि से वंद्य, ऐसे परम चैतन्यपद में स्थित होने से वे 'परमेष्ठी' हैं। सांसारिक जीवों से पर, अर्थात् उत्कृष्ट आत्मा होने से वे 'परात्मा' हैं, और वही उत्तम होने से 'परमात्मा' हैं। इन्द्रादि को भी न हों, ऐसे अंतरंग-बहिरंग दिव्य ऐश्वर्यसहित होने से वे 'ईश्वर' हैं; और समस्त द्रव्यकर्म-भावकर्म का उन्मूलन कर दिया है, इसलिये वे 'जिन' हैं। इसप्रकार ये समस्त नाम परमात्मा के 'शुद्ध' आत्मा के वाचक हैं।

परमात्मा के ऐसे स्वरूप को पहिचानकर अपने आत्मा का भी उसी स्वरूप चिंतवन करना, वह परमात्मा होने का उपाय है।

इन्द्र एक हजार आठ नामों से भगवान की स्तुति करता है और सन्त-मुनिवर भी अनेकानेक नामों से भगवान की स्तुति करते हैं। संत, अंतर में कर्म सम्बन्धरहित और रागादिरहित अपने शुद्ध परमात्मस्वरूप को लक्ष में लेकर उसकी साधना करते हैं; वहाँ परमात्मस्वरूप को प्राप्त ऐसे अरिहन्त-सिद्ध भगवन्तों के प्रति बहुमान का भाव आने पर अनेक प्रकार से स्तुति करते हैं। जिसे ऐसे शुद्ध आत्मा का लक्ष हो, वही परमात्मा की वास्तविक स्तुति कर सकता है।

जिन्हें शुद्ध आत्मा की दृष्टि है—ऐसे अंतरात्मा तो परमात्मा की भावना भाते हैं, और बहिरात्मा रागादि की भावना भाते हैं। भगवान परमात्मा को रागादि का अथवा कर्मों का सम्बन्ध छूट गया है; इसलिये वे 'केवल' हैं; उसी प्रकार मेरा आत्मा भी परमार्थतः रागादि सम्बन्ध से रहित तथा कर्म सम्बन्ध से रहित है—इसप्रकार अपने आत्मा का 'केवल' परसम्बन्धरहित शुद्ध अनुभवन करना, वह परमात्मा होने का उपाय है।

समयसार में भी कहा है कि—अबद्धस्पृष्ट आत्मा का अनुभव, वह जैन शासन है। कर्म बंध से तथा पर के सम्बन्ध से रहित ऐसे ज्ञायकस्वभाव की ओर उन्मुख होकर उसका अनुभव करना,

वही जैन शासन है। जो अपने ऐसे आत्मा का अनुभव करे, उसी को परमात्मा की परमार्थ प्रतीति होती है कि अहो! राग से पृथक् होने पर मुझे जिस अतीन्द्रिय आनंद के अंश का वेदन हुआ, उसी प्रकार का (किंतु उससे अनंत गुना) परिपूर्ण आनंद परमात्मा को प्रगट हो गया है, और वे सर्वथा राग रहित हो गये हैं।—इसप्रकार अंश के वेदनपूर्वक पूर्ण का भान होने पर, साधक को उनके प्रति सच्ची भक्ति एवं बहुमान का भाव आता है। ज्ञानी के अंतर में परमात्मा के प्रति जैसे भक्ति-बहुमान होते हैं, वैसे अज्ञानी को नहीं होते।

भगवान परमात्मा का 'विविक्त' भी एक नाम है। विविक्त अर्थात् भिन्न आत्मा का स्वभाव रागादि से विविक्त है,—ऐसा जानकर भगवान, राग से रहित—विविक्त हो गये। देखो, यह परमार्थ 'विविक्तशय्यासन!' ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये विविक्तशय्यासन करना चाहिये, अर्थात् स्त्री, पशु आदि से रहित एकान्त स्थान में वास करना चाहिये—ऐसा कहा है, उसमें तो व्यवहार में उस प्रकार का विकल्प होता है, उसकी बात है; किंतु परमार्थ से यह ब्रह्मस्वरूप-चैतन्यस्वरूप आत्मा, राग के संग से ही रहित है—राग से भी विविक्त है; ऐसा जो नहीं जानता, और राग के संग से लाभ मानता है, उसे वास्तव में 'विविक्त शय्यासन' नहीं है किंतु विकार में ही शय्यासन है। भले ही वह जंगल में एकान्त गुफा में अकेला पड़ा रहता हो, तथापि अंतर में से राग का संग नहीं छूटा है, इसलिये उसे सच्चा विविक्त शय्यासन नहीं होता; और परमात्मा, रागादि से कैसे विविक्त हैं, उन्हें भी वह नहीं पहिचानता।

यहाँ तो भगवान परमात्मा के स्वरूप की पहिचानसहित उनके अनेक नामों की बात है। आत्मा में अनंत गुण हैं, उसके गुणों की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न अनेक नामों द्वारा उसका कथन किया जाता है। उनमें से कुछ नाम तो ऊपर कहे जा चुके हैं। तदुपरान्त, सर्व का ज्ञाता होने से भगवान को 'सर्वज्ञ' कहा जाता है; सहज आत्मिक आनंदसहित होने से 'सहजानंदी' भी कहा जाता है; राग-द्वेष-मोहरूप कलंकरहित होने से 'निकलंक' अथवा 'अकलंक' भी कहा जाता है; रागादि अंजनरहित होने से 'निरंजन' भी कहा जाता है। जन्म-जरा-मरण रहित होने से 'अजर-अमर' भी कहा जाता है; और वे ही ज्ञानस्वरूप-बोधस्वरूप होने से सच्चे 'बुद्ध' हैं; अपने ज्ञानस्वरूप की मर्यादा के धारी होने से वे ही 'सीमंधर' हैं। आत्मा के अनंत महान पराक्रमी-वीरता प्रगट की है; इसलिये वे 'महावीर' हैं।

व्यक्तिरूप से तो एक नाम द्वारा एक भगवान की पहिचान होती है; किंतु गुणवाचक

नामरूप से एक नाम कहने पर उसमें समस्त भगवान आ जाते हैं। जैसे कि—'सीमंधर' कहने पर व्यक्तिरूप से तो महाविदेह के प्रथम तीर्थंकर (सत्यवतीनंदन) की पहिचान होती है तथा 'महावीर' कहने से भरतक्षेत्र के अन्तिम तीर्थंकर (त्रिशलानन्दन) की पहिचान होती है; किंतु गुणवाचकरूप से तो सर्व परमात्मा जिनवरों को 'सीमंधर' अथवा 'महावीर' कहा जा सकता है, क्योंकि सभी भगवंत, स्वरूप की सीमा को धारण करनेवाले हैं, और महान वीर्य के धारक हैं;—इसप्रकार गुण के स्वरूप से परमात्मा को पहिचानने की प्रधानता है। और परमात्मा को जितने नाम लागू पड़ते हैं, वे सब नाम स्वभाव की अपेक्षा से आत्मा को भी लागू होते हैं; क्योंकि स्वभाव से तो आत्मा भी परमात्मा के समान है। जितने गुण परमात्मा में हैं, उतने ही गुण इस आत्मा में हैं और उनका विकास करके (अर्थात् पर्याय में प्रगट करके) यह आत्मा स्वयं परमात्मा हो सकता है। इसप्रकार आत्मा के ध्येयरूप जो परम-पद है, उसे भलीभाँति पहिचानना चाहिये; पहिचाने बिना उसकी प्राप्ति नहीं होती।

सम्यग्दृष्टि

नि:शंक और निर्भय होते हैं

[समयसार निर्जरा-अधिकार के प्रवचनों से]

(वीर सं० २४८३, अषाढ़ कृष्णा ८-९-१०)

''अहो ! मैं तो ज्ञनस्वभाव ही हूँ, ज्ञान से भिन्न अन्य कोई मेरा स्वरूप नहीं है; अपना जो ज्ञानस्वरूप मैंने प्रतीति में लिया है, वह कभी अन्यथा नहीं हो सकता; जगत में किसी संयोग की ऐसी सामर्थ्य नहीं है कि मेरे ज्ञानस्वरूप को अन्यथा कर सके।''—ऐसी स्वभाव की नि:शंकता के कारण सम्यग्दृष्टि जीव निर्भय होता है।

ज्ञानी अंतरंग नि:शंकता से कहते हैं कि—हमने भेदज्ञानरूपी भाले द्वारा मोह को छेद डाला है। मोह को मार कर हम जा रहे हैं, एकाध भव में मोक्ष प्राप्त करेंगे... और पुन: इस संसार में नहीं आयेंगे।

देखो, यह ज्ञानी की निर्भयता !

सम्यक्त्वी नि:शंकित होने से सर्वत्र निर्भय है-यह बात इस गाथा में कहते हैं—

सम्यग्दृष्टयो जीवा निश्शंका भवंति निर्भयास्तेन।
सप्तभय विप्रमुक्ता यस्मात्तस्मात्तु निश्शंका: ॥२२८॥

देखो, यह सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा की दशा !

सम्यक्त्वी जीव अत्यंत नि:शंक और निर्भय होते हैं; क्यों ?—क्योंकि वे अपने ज्ञानानन्द-स्वभाव के अतिरिक्त समस्त कर्मफल के प्रति अभिलाषा रहित होने से, कर्मों के प्रति अत्यंत निरपेक्षरूप से वर्तते हैं। रागादि हों, उनकी भी अपेक्षा नहीं है अर्थात् यह शुभराग मुझे कुछ लाभ करेगा—ऐसी किंचित् बुद्धि नहीं है; मैं तो राग से पार ज्ञानस्वरूप ही हूँ; इसके अतिरिक्त अन्य कुछ मेरा है ही नहीं;—इसप्रकार अत्यंत नि:शंक-दारुण निश्चयवान होने से सम्यग्दृष्टि जीव अत्यन्त निर्भय हैं। सिंह पीछे आ रहा हो और सम्यक्त्वी किंचित् भय से दौड़ने लगे; तथापि उस समय भी आचार्यदेव कहते हैं कि—वह सम्यक्त्वी निर्भय है, क्योंकि यह सिंह मुझे अपने स्वरूप से विचलित कर देगा—ऐसा भय उन्हें नहीं होता; इसलिये वे निर्भय हैं। ज्ञानस्वरूप में शंका उत्पन्न

करे—ऐसा भय ज्ञानी को कभी नहीं होता। ''मैं ज्ञानस्वरूप हूँ''—ऐसी प्रतीति में धर्मी को कभी शंका नहीं होती और ज्ञान से भिन्न किसी परभाव की उसे अपेक्षा नहीं है। स्वरूप में निःशंक और परभावों से अत्यन्त निरपेक्ष होने से धर्मात्मा अत्यन्त निर्भय है। किंचित् रागादि हों अथवा प्रतिकूलता आ जाये तो वहाँ ''यह राग या प्रतिकूलता मेरे ज्ञानस्वरूप का नाश कर देंगे''—ऐसा भय या सन्देह ज्ञानी को नहीं होता।—इसप्रकार ज्ञानी अत्यन्त निःशंक और निर्भय होते हैं। अहा! मैं तो नित्य ज्ञानस्वभाव ही हूँ; ज्ञान से भिन्न अन्य कुछ मेरा स्वरूप नहीं है; शुभाशुभ कर्मों के उदय के समय भी मैं तो ज्ञानभावरूप परिणमित होनेवाला हूँ। समस्त कर्मों के फल से मैं अत्यंत भिन्न हूँ;—ऐसा जहाँ अनुभव हुआ, वहाँ धर्मी को सन्देह या भय कहाँ से होगा? मैंने अपने जिस ज्ञानस्वरूप की प्रतीति की है, वह कभी अन्यथा नहीं हो सकता। जगत में किसी संयोग की ऐसी सामर्थ्य नहीं है कि मेरे ज्ञानस्वरूप को अन्यथा कर सके।—ऐसी स्वभाव की निःशंकता के कारण सम्यग्दृष्टि निर्भय होता है। सम्यक्त्वी को सात भय नहीं होते—यह बात अब आचार्यदेव छह कलशों द्वारा अद्भुत रीति से समझाते हैं:—

(१-२) निःशंकरूप से अंतर में चित्स्वरूप लोक का अवलोकन करनेवाले ज्ञानी को इहलोक या परलोक सम्बन्धी भय नहीं होता।

ज्ञानी-धर्मात्मा को अपने स्वरूप की निःशंकता के कारण इहलोक तथा परलोक का भय नहीं है; यह बात आचार्यदेव श्लोक में कहते हैं:—

(शार्दूलविक्रीड़ित)

लोकः शाश्वत एक एष सकलव्यक्तो विविक्तात्मन-
श्चिल्लौकं स्वयमेव केवलमदं यल्लोकयत्येककः
लोकोऽयं न तवापरस्तदपरस्तस्यास्ति तद्धीः कुतो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति॥१५५॥

सम्यक्त्वी को सात भय का अभाव दरशानेवाले यह १५५ से १६० तक के छह कलश अत्यन्त सुन्दर व भाव युक्त होने से मुखाग्र करने योग्य हैं।

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा अंतरदृष्टि से स्वयमेव अकेले अपने चैतन्यस्वरूप लोक का अवलोकन करता है; बाह्य लोक से भिन्न चैतन्यस्वरूप ही अपने आत्मा का अनुभवन करता है; इसलिये वह ज्ञानी जानता है कि यह चैतन्यस्वरूप लोक ही मेरे आत्मा का लोक है; उससे भिन्न

अन्य कोई इहलोक या परलोक मेरा नहीं है।—इसप्रकार ज्ञानी तो निरंतर नि:शंकरूप से अपने आत्मा का सहज ज्ञानस्वरूप ही अनुभव करता है; वहाँ उसे इहलोक या परलोक सम्बन्धी भय कहाँ से होगा?

जगत में परवस्तुएँ तो इस आत्मा से भिन्न हैं; लोक की कोई वस्तु आत्मा की नहीं है। आत्मा अनंत चैतन्यशक्ति से परिपूर्ण है; जो चैतन्यस्वरूपी लोक है, वह आत्मा का लोक है; आत्मा का वह चैतन्यस्वरूपी लोक सदैव आत्मा के साथ शाश्वत् रहता है और अन्य के सम्बन्ध से रहित वह अकेला है; आत्मा स्वयं अंतर्मुख होकर अकेला ही (—किसी मन-वाणी-देहादि की सहायता के बिना ही) अपना अंतर अवलोकन करता है; इसलिये स्वयं ही अपना लोक है; और आत्मा का चैतन्यस्वरूप सदैव व्यक्त है।—इसप्रकार चैतन्यस्वरूप आत्मा को ही अपना लोक मानते हैं, इसलिये धर्मात्मा को लोक सम्बन्धी भय नहीं होता। अहो! मैं तो ज्ञायक ही हूँ, ज्ञान-स्वरूप में ही मेरा सर्वस्व है; ज्ञानस्वरूप से बाह्य मेरा कोई है ही नहीं—ऐसा धर्मी जानता है; इसलिये उसे ऐसा भय नहीं होता कि देहादि सामग्री का क्या होगा? मैं अपनी अंतरंग सामग्री से परिपूर्ण हूँ, बाह्य सामग्री मेरी नहीं है—ऐसे अनुभव की नि:शंकता में धर्मात्मा को इहलोक या परलोक का भय नहीं होता। "इस जगत में मेरा कौन है? परभव में मेरा क्या होगा? मैं कहाँ जाऊँगा?"—ऐसा सन्देह या भय धर्मात्मा को नहीं होता। मैं चैतन्यस्वरूप हूँ और परभव में भी मैं ज्ञानस्वरूप ही रहूँगा; ज्ञानस्वरूप ही मेरा परलोक (उत्कृष्ट वस्तु) है—ऐसी ज्ञानस्वरूप की नि:शंकता में धर्मी को अन्य शंका नहीं होती और शंका न होने से भय भी नहीं होता।

"हे आत्मन! यह चैतन्यस्वरूप लोक ही तेरा है; इससे भिन्न अन्य कोई लोक—इहलोक या परलोक तेरा नहीं है।"—ऐसा ज्ञानी विचार करता है और वह नि:शंकरूप से वर्तता हुआ अपने सहज ज्ञान का सदैव अनुभव करता है। ऐसे अनुभव में धर्मात्मा को इहलोक या परलोक सम्बन्धी भय नहीं होता।

देखो, लौकिक में राजपद आदि में तो पुण्य की अपेक्षा है; उसमें कहीं गुण की अपेक्षा नहीं है। मिथ्यादृष्टि जीव भी किसी विशेष पुण्य के उदय से राजा हो, वहाँ कोई विरोध करे कि बस, हमें मिथ्यादृष्टि राजा की आवश्यकता नहीं है;—ऐसा विचार कर विरोध करे तो उसे कषाय का अभिप्राय है; उस पुण्य का विवेक नहीं है। जैसे-पुण्य के अनुसार जो माता-पिता की प्राप्ति हुई हो, वहाँ कोई ऐसा विचार करे कि मिथ्यादृष्टि जीवों का माता-पिता रूप से स्वीकार नहीं करूँगा, तो

उसके विचार में विवेक नहीं है। भाई! लौकिक में ऐसा माप नहीं होता। और धर्म में कोई —''हमारे गुरु महान् पुण्यवंत हैं''—इसप्रकार अकेले पुण्य पर से गुरुपद की पहिचान करे तो उसने वास्तव में गुरुपद की पहिचान नहीं की है। धर्म भिन्न वस्तु है और पुण्य भिन्न वस्तु है। लौकिक में तो जो पुण्य से बड़ा हो, उसी को बड़ा माना जाता है।

यहाँ तो कहते हैं कि धर्मात्मा को अपने चैतन्यस्वरूप के अतिरिक्त किसी की अपेक्षा नहीं है। मेरे चैतन्यस्वरूप उत्तम लोक को बिगाड़ने के लिये इस जगत में कोई समर्थ नहीं है। —इसप्रकार धर्मी जीव दुनियां की दरकार छोड़कर आत्मा के अंतर् स्वरूप में ढलता है। अंतर स्वरूप के अनुभव में इहलोक की या परलोक की चिन्ता क्या? अंतरस्वरूप के अवलम्बन से ज्ञानी सम्यक्त्वी धर्मात्मा निरन्तर निःशंक और निर्भय हैं।

इहलोक और परलोक में मुझे सदैव अपने चैतन्यस्वरूप का ही साथ है; किसी पर का साथ नहीं है। राग का भी साथ नहीं है। ऐसी निःशंक प्रतीति के कारण धर्मात्मा को कभी इहलोक सम्बन्धी अथवा परलोक सम्बन्धी भय नहीं होता। जिसे चैतन्यस्वरूप की निःशंकता नहीं है, उसी को भय होता है और उसी को बंधन होता है। धर्मात्मा को चैतन्यस्वरूप की निःशंकता के कारण लोक सम्बन्धी निर्भयता है; इसलिये उनके निर्जरा होती रहती है किन्तु बन्धन नहीं होता।

अहो! एक बार इस बात का निर्णय तो करो! यह अंतरंग वस्तु की बात है। यह मात्र वैराग्य की बात नहीं है; किन्तु जहाँ अंतर में जगत से भिन्न चैतन्यस्वरूप का अनुभवन किया है, वहाँ जगत में कहीं परद्रव्य या परभाव के साथ एकत्वबुद्धि होती ही नहीं; ज्ञान में ही एकतारूप परिणमन रहता है; इसलिये वहाँ परसम्बन्धी भय नहीं होता। कर्मों का उदय आकर मेरे चैतन्यस्वरूप को बिगाड़ देगा—ऐसा भय भी धर्मात्मा को नहीं होता।

(३) ज्ञानी तो निर्भयतापूर्वक ज्ञान का ही वेदन करते हैं; उन्हें किसी अन्य वेदन का भय नहीं है।

सम्यक्त्वी धर्मात्मा को वेदन-भय भी नहीं होता;—ऐसा अब कहते हैं:—

एषैकेव हि वेदना यदचलं ज्ञानं स्वयं वेद्यते
निर्भेदोदितवेद्यवेदक बलादेकं सदानाकुलैः।
नैवान्यागतवेदनैव हि भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो?
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति॥१५६॥

जिनके अंतर में आत्मा के अतीन्द्रिय आनंद का स्वसंवेदन हुआ—ऐसे सम्यग्दृष्टि-ज्ञानी धर्मात्मा जानते हैं कि मेरा आत्मा वेदक होकर अपने ज्ञान-आनन्द के निराकुल स्वाद का ही वेदन करनेवाला है; मेरे ज्ञान-आनन्द से भिन्न अन्य कोई वेदन मुझमें नहीं है। मेरे ज्ञान-आनन्द के वेदन में आकुलता के वेदन का भी अभाव है; तो फिर पुद्गल-जन्य रोगादि वेदना तो कहाँ रही ?—इसप्रकार नि:शंकरूप से अपने सहज अनाकुल ज्ञान का ही निरंतर वेदन होने से ज्ञानी के अन्य वेदना का भय नहीं होता।

देखो, इस समय जोरों से इन्फ्लुएन्जा रोग फल रहा है, और लोग चारों ओर भयभीत हो गये हैं; किन्तु धर्मी तो जानते हैं कि इस रोग की वेदना तो शरीर में है; लेकिन जब यह जड़ शरीर ही मेरा नहीं है तो फिर मुझे रोग की वेदना कैसी ? मैं तो अपने सहज ज्ञान का ही वेदन करता हूँ; ज्ञान ही मेरा शरीर है। मेरे ज्ञान शरीर में यह इन्फ्लुएन्जा आदि रोग प्रवेश ही नहीं कर सकते तो वहाँ मुझे वेदना का भय कहाँ से होगा ?

वेद्य-वेदक दोनों अभेद होते हैं; अर्थात् आत्मा वेदक होकर अपने भाव का वेदन करता है किन्तु शरीर का वेदन नहीं कर सकता। अपने से भिन्न वस्तु की वेदना अपने को कैसे हो सकती है ? धर्मी का आत्मा तो अपने से अभिन्न ऐसे ज्ञान का ही वेदन करता है; उस ज्ञान वेदन में किसी बाह्य वेदना का प्रवेश ही नहीं है; तो फिर ज्ञानी को वेदना का भय कैसे होगा ? इस शरीर का छेदन-भेदन हो, इसमें रोग हो या बिच्छू डंक मार दे तो उसकी वेदना का वेदन धर्मी को नहीं है। निर्बलता के कारण किंचित् अरुचि या द्वेष हो जाये, तथापि उस द्वेष का अपने ज्ञानस्वरूप के साथ एकत्वरूप वेदन नहीं करते; द्वेष से भिन्न ज्ञानभाव का ही अपने में एकत्वरूप से वेदन करते हैं।—इसप्रकार ज्ञानवेदन में नि:शंकरूप से वर्तते हुए धर्मात्मा को अन्य किसी बाह्य वेदना का भय नहीं होता।

''वेदना'' में अनुकूल तथा प्रतिकूल दोनों वेदनाएं लेना चाहिये। जैसे—चाहे जैसी प्रतिकूलता की वेदना में भी धर्मात्मा अपने स्वरूप की श्रद्धा से नहीं डिगते; उसीप्रकार चाहे जैसी अनुकूलताओं से समूह उपस्थित हों, तथापि वे उनके वेदन में संयोग के उपभोग में—सुखबुद्धि पूर्वक एकाग्र होकर अपने स्वरूप की श्रद्धा को नहीं छोड़ते। हर्ष-शोकरूप विकार का जो क्षणिक वेदन है, उससे भिन्न अपने ज्ञानस्वरूप को जाना है और आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के अंश का वेदन हुआ है, वहाँ बाह्य रोगादि वेदना का भय धर्मात्मा को नहीं होता। हम तो आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन करनेवाले हैं; हर्ष-शोक का वेदन हमारा नहीं है; उस विकारी वेदना का मेरे

ज्ञानस्वरूप में प्रवेश नहीं है; और बाह्य में जो रोगादि होते हैं, वे तो मुझसे बाहर ही हैं, उनकी वेदना मुझे नहीं है।—ऐसे भेदज्ञान में धर्मात्मा को कभी वेदना का भय नहीं होता।

जिसमें जो भरा हो, उसमें उसी का वेदन होता है। धर्मी जानते हैं कि मेरे आत्मा में तो आनन्द और शांति ही भरे हैं; इसलिये आत्मसन्मुख दृष्टि में मुझे अपने आनन्द और शांति का ही वेदन है।—ऐसा जानने से धर्मी क्षणिक हर्ष-शोक जितने वेदन में एकाकार नहीं होते। मेरे ज्ञान में अन्य किसी वस्तु का प्रवेश ही नहीं है; तो फिर उसका वेदन मुझे कैसे हो सकता है? अज्ञानी तो हर्ष-शोक के क्षणिक वेदन में ऐसा एकाकार हो जाता है कि—ज्ञानानंदस्वरूप को बिलकुल भूल ही जाता है; हर्ष-शोक से भिन्न उसे कोई वेदन भासित नहीं होता; इसलिये हर्ष-शोक के वेदन में ही एकाकाररूप से वर्तता हुआ वह कर्मों से बँधता है। और ज्ञानी-धर्मात्मा ने हर्ष-शोक से पार चैतन्य के आनन्द के वेदन को जाना है, इसलिये उस हर्ष-शोक के वेदन के समय भी उसमें एकाकाररूप से परिणमित होते ही नहीं, उससे भिन्नरूप रहकर ज्ञान में ही एकता करके ज्ञान का वेदन करते हैं। इसलिये उस ज्ञान वेदन की मुख्यता से धर्मी को निर्जरा होती रहती है। धर्मी को ज्ञान की मुख्यता वेदन होने से एक उसी का वेदन माना है; और हर्ष-शोक का अल्प वेदन होने पर भी वह गौण होने से उसका अभाव गिना है।—इसप्रकार धर्मी को एक ज्ञान वेदना में अन्य वेदना का अभाव है, इसलिये उसे वेदना और भय नहीं होता।

श्रेणिक राजा आदि सम्यक्त्वी जीव नरक में हैं। उनके भी अंतर में चैतन्य दृष्टि से ज्ञान वेदन की ही मुख्यता है; शोक का वेदन मुख्य नहीं है; क्योंकि दृष्टि तो अंतरंग चैतन्यस्वभाव पर ही है। हर्ष-शोक की वेदना तो ऊपरी भाव हैं; उन ऊपरी भावों द्वारा अंतर में नहीं पहुँचा जाता। उन ऊपरी भावों को पार करके धर्मात्मा ने अंतर में प्रवेश किया है—अंतर्मुख होकर वे अपने आत्मिक ज्ञान-आनंद के शांतरस का वेदन करते हैं।

जिसका वर्णन सुनते हुए भी साधारण प्राणी थरथरा उठें, ऐसी नरक की वेदना में पड़ा हो, वहाँ अज्ञानी तो उस वेदना में ही दब जाता है। उस वेदना से भिन्न मेरा चैतन्य तत्त्व है—ऐसी चैतन्य की वेदना को वह भूल जाता है। वहाँ ज्ञानी तो उस नरक की वेदना से पार अपने ज्ञानानंदस्वरूप के वेदन को वेदता है। ज्ञानानंदस्वरूप की दृष्टि की मुख्यता में शोक के वेदन का उसे अभाव है। किन्तु यह बात अंतर की है; लोगों को बाहर से समझ में आना कठिन है।

देखो, जब पं० बनारसीदासजी अन्तिम दशा में थे, उस समय वे तो अपनी ज्ञानदशा में थे;

किन्तु कुटुम्बियों और स्नेहियों को ऐसी शंका हुई कि – इनका जीव निकलने में देर लग रही है, इसलिये अवश्य वह किसी वस्तु में अटका है। पंडितजी उनकी बात समझ गये और तुरन्त इशारे से स्लेट मँगवाकर उस पर लिखा कि—

"ज्ञान कुत्तका हाथ मारि अरे मोहना,
प्रगट्यो रूप अरूप अनंत सु सोहना;
यह पर्जय के अंत सत्य कर मानना,
चले बनारसीदास फेर नहिं आवना।"

देखो, यह ज्ञानी की अंतरंगदशा! अंतरंग नि:शंकतापूर्वक कहते हैं कि—भेदज्ञानरूपी भाले द्वारा हमने मोह को छेद डाला है; हम मोह को मारकर जा रहे हैं। एकाध भव में मोक्ष प्राप्त करेंगे... और फिर इस संसार में जन्म नहीं लेंगे। देखो, यह ज्ञानी की निर्भयता! ज्ञानी का अंतरंग वेदन बाहर से नहीं जाना जा सकता।

अहा! चैतन्य के शांत अनाकुल वेदन को चूककर जीव व्यर्थ चिन्ता करके आकुलता का ही वेदन करते हैं। किंतु बाहर की जितनी चिन्ता करे, वह सब व्यर्थ है; उसमें मात्र आकुलता के वेदन के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। इसलिये धर्मी तो निराकुलरूप से अंतर चैतन्यस्वभाव पर नि:शंक दृष्टि रखकर ज्ञान के सहज वेदन का निर्भयतापूर्वक अनुभवन करते हैं; और "जैसा वर्तमान वैसा भविष्य"—इस न्याय से उसे ऐसा भी भय नहीं होता कि—"भविष्य में रोगादि की वेदना में मैं दब जाऊंगा" वह तो नि:शंक है कि भविष्य में भी मेरे ज्ञानस्वरूप में से ऐसे निराकुल ज्ञान का ही वेदन आयेगा, मेरे ज्ञान में अन्य वेदन का अभाव है।—ऐसी नि:शंकता के कारण धर्मात्मा निर्भय हैं, उन्हें वेदना भय नहीं होता।

[—तदुपरान्त अरक्षा, अगुप्ति, मरण या दुर्घटना आदि सम्बन्धी भय भी सम्यग्दृष्टि को नहीं होता—उसका विवेचन अगले अंकों में दिया जायेगा।] (क्रमश:)

परद्रव्य

बंध का कारण नहीं है।

ज्ञानी को बंधन क्यों नहीं होता और अज्ञानी को क्यों होता है ? उसका स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य-भगवान कहते हैं कि बाह्य संयोग तो ज्ञानी या अज्ञानी किसी को बंधन के कारण नहीं होते। जीवों को अपना अज्ञानभाव ही बंध का कारण है। ज्ञानी तो अपने ज्ञानभावरूप से ही परिणमित होते हैं, इसलिये उन्हें बंधन नहीं होता; और अज्ञानी अपने अज्ञानभावरूप परिणमित होता है, इसलिये उसे बंधन होता है; ज्ञानी और अज्ञानी के अंतर परिणमन का महान अंतर पूज्य गुरुदेव ने इस प्रवचन में बतलाया है।

[—समयसार-बंध अधिकार के प्रवचन से]

अंतर्मुख होने पर जहाँ ज्ञानस्वभावी आत्मा का परिचय हुआ, वहाँ धर्मी ने अपने आत्मा को पर से भिन्न जाना; और रागादि परभावों से भी आत्मस्वभाव की भिन्नता ज्ञात की। अब, उस अंतर्मुख ज्ञानस्वभाव की दृष्टि से वह ज्ञानभावरूप ही परिणमित होता है; अल्प रागादि हों, उनमें तन्मयरूप से परिणमित नहीं होता। ऐसे ज्ञानी धर्मात्मा बाह्य भोगोपभोग की सामग्री में रहते हों, तथापि उन्हें अज्ञानजनित बंधन नहीं होता। संयोग, ज्ञानी को अज्ञानरूप परिणमित नहीं कर सकते; इसलिये संयोग के कारण बंधन नहीं होता। अज्ञानी, संयोग के समय ज्ञान को भूलकर पर के साथ एकत्वबुद्धि से राग में लीन होकर अज्ञानभावरूप परिणमित होता है; इसलिये उसे अपने अज्ञान भाव के कारण बंधन होता है।

पर संयोग के निमित्त से ज्ञानी को बंधन नहीं होता;—वह समझाने के लिये यहाँ शंख का दृष्टान्त दिया है। जैसे शंख अपने स्वभाव से सफेद है; लाल-काली वस्तु खाने पर भी उसकी सफेदी नष्ट नहीं होती, अर्थात् काले रंग की वस्तु खाने से वह काला नहीं हो जाता; उसी प्रकार उज्ज्वल ज्ञानभावरूप परिणमित ज्ञानी, पर संयोग में स्थित दिखाई दें, तथापि वह परद्रव्य उसके ज्ञान को अज्ञानरूप नहीं कर सकता; क्योंकि कोई भी द्रव्य अन्य द्रव्य को निमित्त होकर परभाव स्वरूप परिणमित नहीं कर सकता, और परद्रव्य से लाभ-हानि माननेवाला अज्ञानी जीव, भगवान

का स्मरण करता हो, उस समय भी उसके तो अज्ञानभाव के कारण उसे बंधन ही होता है; वह स्वयं अपराधी होने से बन्धन में पड़ता है।

कोई तिर्यंच-बैल का जीव सम्यक्त्वी हो और खेत में फिरता हुआ हरी फसल चरता हो, तथापि उस समय भी अंतर में ज्ञानानन्दस्वभाव की दृष्टि वर्तती है; इसलिये उसे अज्ञानजनित बंधन नहीं होता। और अन्य कोई रागादि से धर्म माननेवाला मिथ्यादृष्टि जीव कदाचित् पींछी लेकर पर जीव की दया के शुभपरिणाम में वर्तता हो, तथापि उस समय भी अपने अज्ञान भाव के कारण उसे बंधन ही होता है। पर की क्रिया मेरी—ऐसा मानकर राग में लीनतारूप वर्तन होने से अज्ञानी प्रतिक्षण बंधता है और ज्ञानी तो ज्ञानानन्दस्वरूप में एकत्वरूप से वर्तते हुए प्रतिक्षण कर्मों से मुक्त होते ही रहते हैं।

ज्ञानी को बाह्य क्रिया के संयोग में स्थित देखकर "उस संयोग के कारण अज्ञानी को बंधन होता होगा"—ऐसी कल्पना अज्ञानी करता है; किन्तु उससमय भी ज्ञानी तो संयोग से पार अपने ज्ञानस्वभाव की दृष्टि से ज्ञानभावरूप परिणमित होते हुये कर्मों से मुक्त होते ही जाते हैं; उस ज्ञानभाव की पहिचान अज्ञानी को नहीं है। संयोग कम हुए, इसलिये बंधन कम हो गया और संयोग बढ़े, इसलिये बंधन में वृद्धि हुई;—ऐसा अज्ञानी ही बाह्यदृष्टि से देखते हैं, किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है।

हाथ में तलवार का संयोग हो, तो ज्ञानी का ज्ञान बदलकर अज्ञानरूप हो जाये—ऐसा नहीं है; और लाखों वर्ष तक द्रव्यलिंग धारण करके शुभराग में वर्ते तो उससे कहीं अज्ञानी का अज्ञान छूटकर ज्ञान हो जाये—ऐसा नहीं है। स्वयं अंतर्मुख होकर ज्ञानरूप परिणमित ज्ञानी को अज्ञानरूप करने में कोई परद्रव्य समर्थ नहीं है; और स्वयं अज्ञानभावरूप वर्तते हुए अज्ञानी को ज्ञानरूप करने में भी कोई परद्रव्य समर्थ नहीं है।

जैसे—सफेद शंख भी जब अपने आप सफेदी छोड़कर कालिमारूप परिणमित हो, तब वह स्वयं काला होता है; भले ही वह उस समय काली वस्तु खाता हो अथवा न खाता हो, किन्तु वह स्वयं कृत कृष्णभावरूप होता है, कोई परद्रव्य उसे कृष्णरूप परिणमित नहीं करता। उसीप्रकार जो जीव स्वयमेव अपने ज्ञानभाव को छोड़कर जब अज्ञानरूप परिणमित होता है, उससमय अपने स्वयं कृत अज्ञानभाव से ही वह अज्ञानी होता है, किन्तु कोई परवस्तु उसे अज्ञानरूप नहीं करती। परवस्तु का संयोग हो अथवा न हो; तथापि स्वयं-कृत अज्ञानभाव के कारण वह जीव स्वयं ही

अज्ञानी होता है। इसप्रकार जीव अपने स्वयं कृत भाव से ही ज्ञानरूप अथवा अज्ञानरूप परिणमित होता है। और जिसे बंधन होता है, उसे अपने अज्ञानभाव के कारण ही बंधन होता है। ज्ञानी को तो ज्ञानभाव होने से बंधन होने की शंका ही नहीं उठती।—इसप्रकार ज्ञानभाव में निःशंकरूप से वर्तता हुआ ज्ञानी कर्म से नहीं बँधता, किन्तु उसके कर्मों की निर्जरा होती जाती है।

ज्ञानी की अद्भुत अंतर-परिणति।

ज्ञानी के अंतरंग ज्ञानपरिणाम, राग से भी पार हैं, इसलिये परमार्थतः ज्ञानी राग के कर्ता नहीं हैं; ज्ञानी तो ज्ञानपरिणाम के ही कर्ता हैं। अज्ञानी को अकेला राग ही दिखाई देता है, इसलिये ज्ञानी को भी वह उसी दृष्टि से देखता है कि—"यह ज्ञानी राग करता है, यह ज्ञानी हर्ष का वेदन करता है"—किन्तु उससमय राग तथा हर्ष से पार ज्ञानी की परिणति वर्तती है, उसे वह अज्ञानी नहीं देखता। ज्ञानी की परिणति राग से भिन्न है। जिसे राग से भिन्न ज्ञानभाव का वेदन नहीं है, वह जीव ज्ञानी की रागातीत ज्ञानपरिणति को कैसे जान सकेगा? अंतर आत्मा की गति बहिरात्मा कैसे जान सकता है? ज्ञानी के परिणाम सम्यक्दर्शन तथा सम्यक्ज्ञान सहित उज्ज्वल हैं, उस उज्जवलता को वे ही जानते हैं, मिथ्यादृष्टि उस उज्ज्वलता को नहीं जानते। यदि ज्ञानी की अंतर परिणति को यथार्थरूप से जाने तो जीव को अपने में स्वभाव तथा विभाव का भेदज्ञान हुए बिना न रहे।

सम्यग्दृष्टि का परम साहस

चाहे जैसे कठिन परीषह के समय ज्ञानी अपने ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा से च्युत नहीं होते; वे निःशंकरूप से अपने ज्ञानभाव में ही परिणमन करते हैं। सम्यग्दृष्टि ही ऐसा परम साहस करने में समर्थ हैं;—यह बात इस कलश में कहते हैं:—

(शार्दूलविक्रीड़ित)

सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुंक्षमंते परं।
यद्वज्रेऽपिपतत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि।
सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया शंकां विहाय स्वयं
जानंतः स्वमवध्यबोधवपुषं बोधाच्च्यवंते न हि॥१५४॥

देखो, यह धर्मी जीव का अंतरंग पराक्रम! मात्र सम्यग्दृष्टि ही ऐसा परम साहस करने में समर्थ हैं कि—जिसके भय से तीन लोक में उथल पुथल मच जाये और वे अपना मार्ग छोड़ दें—ऐसा वज्रपात हो, तथापि सम्यग्दृष्टि अपने ज्ञानस्वभाव से च्युत नहीं होते; "मैं तो ज्ञानस्वरूप

हूँ, मेरा ज्ञान शरीर अवध्य है; जगत में कोई उसका घात करने में समर्थ नहीं है''—ऐसा नि:शंकता तथा निर्भयतापूर्वक जानते हुए धर्मात्मा अपने ज्ञान-श्रद्धान से विचलित नहीं होते।

कदाचित् कोई देव आकर ऐसा कहे कि तेरी मान्यता मिथ्या है, इसलिये वह मान्यता छोड़ दे; नहीं तो मैं तेरे प्राण हर लूँगा; तो वहाँ भी ज्ञानी धर्मात्मा अपने ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा नहीं छोड़ते; ज्ञानस्वरूप से च्युत नहीं होते। स्वरूप में नि:शंकता होने से वे निर्भय हैं। मैं तो ज्ञानशरीरी हूँ, यह जड़ शरीर मेरा है ही नहीं; और मेरे ज्ञानशरीर का घात करने में कोई इस जगत में समर्थ है ही नहीं। कदाचित् वज्रपात हो और तीनलोक के जीव भय से काँप उठें तो भी वहाँ धर्मात्मा अपने स्वरूप की श्रद्धा से विचलित नहीं होते। जगत के साधारण जीव तो भय से काँपने लगते हैं और मार्ग छोड़ देते हैं, किन्तु सम्यक्त्वी धर्मात्मा अपने स्वरूप की श्रद्धा से नि:शंकतारूप वर्तते हैं; इसलिये वे निर्भय हैं, वे अपने मार्ग से च्युत नहीं होते;—ऐसे सम्यक्त्वी धर्मात्मा को निर्जरा होती है।

अंतर में चैतन्य के अतीन्द्रिय आनंद को चूककर बाह्य इन्द्रिय विषयों में मूर्छित बहिरात्मा निरंतर दु:खी हैं।

—और—

मेरा सुख मेरे आत्मा में ही है; बाह्य-इन्द्रिय-विषयों में मेरा सुख नहीं है—ऐसी अंतर प्रतीति करके धर्मात्मा अंतर्मुख होकर आत्मा के अतीन्द्रिय सुख का स्वाद लेते हैं.... वे निरन्तर सुखी हैं।

निज चैतन्य विषय से च्युत होकर बाह्य विषयों में सुख-दु:ख की बुद्धि से अज्ञानी जीव दिन-रात जल रहे हैं।

अरे जीवो! परम आनन्द से भरपूर अपने आत्मा को सम्हालो और आत्मा के शांतरस में मग्न होओ।

कर्मबंध से छूटने का उपाय

देखो, आचार्यदेव, कर्मों से छूटने का उपाय बतलाते हैं। ज्ञानस्वरूप के अनुभव द्वारा ही आठ कर्मों का नाश होता है। स्वभावसन्मुख दृष्टि होने पर सम्यक्त्वरूपी सूर्य उदित हुआ, वहाँ उस सूर्य का प्रताप समस्त कर्मों को नष्ट कर देता है; पूर्व कर्मों का उदय होने पर भी सम्यग्दृष्टि को दृष्टि के बल से नवीन कर्मों का किंचित् बंध नहीं होता; किन्तु पूर्व कर्मों की निर्जरा ही होती रहती है।

मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी संबंधी-४१ कर्मों का बंध सम्यक्दृष्टि के नहीं होता; उदय है, इसलिये बंध होता है—यह बात तो कहीं उड़ गई; उदय के समय चिदानन्द -स्वभाव के ओर की दृष्टि के बल से आत्मा उस उदय को खिरा ही देता है; इसलिये वह उदय उसे बंध का कारण हुये बिना निर्जरित हो जाता है। जहाँ मिथ्यात्व के बंधन को उड़ा दिया, वहाँ चारित्र की आंशिक अस्थिरता के अल्प बंधन की क्या गिनती ?—वह भी क्रमशः दूर होता ही रहता है। इसप्रकार ज्ञानी को स्वसन्मुख परिणति के कारण कर्मों की निर्जरा ही होती है और अल्पकाल में सर्व कर्मों का नाश करके वह सिद्धपद प्राप्त करता है।—ऐसी सम्यक्दर्शन की महिमा है। (-प्रवचन से)

पहले जो बहिरात्मा थे, वे ही अपनी आत्मशक्ति के अवलम्बन द्वारा अंतरात्मा होकर परमात्मा हुए हैं।

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

मूल में भूल	।।।)	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२॥)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)	सम्यग्दर्शन	१॥=
श्री अनुभवप्रकाश	॥)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा)	२)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द	१।=)
समयसार प्रवचन भाग २	५।)		
समयसार प्रवचन भाग ३	४॥)	भेदविज्ञानसार	२)
प्रवचनसार	५)	अध्यात्मपाठसंग्रह	५)
अष्टपाहुड़	३)	समयसार पद्यानुवाद	।)
चिद्विलास	१=)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
आत्मावलोकन	१)	स्तोत्रत्रयी	॥)
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र०	१।=)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
द्वितीय भाग	२)	'आत्मधर्म मासिक' लवाजम-	३)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥-)	आत्मधर्म फाइलें १-२-३-५-६-७-८-१० वर्ष	३।।।)
द्वितीय भाग	॥-)		
जैन बालपोथी	।)	शासन प्रभाव	=)

हिन्दी आत्मधर्म की फाइलें

वर्ष १, २, ३, ५, ६, ७,, ८, १० यह आठ फाइलें एक साथ
लेने वालों को ३०-०-० के बदले २०-०-० में दी जायेंगी।

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।